L H 891.24
PA C.1
122400
LBSNAA

स्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
L.B.S. National Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या
Accession No. 122400 ~~8255~~

वर्ग संख्या
Class No. GLH 891.24

पुस्तक संख्या
Book No. UPA ~~उपाध्या~~ प्रति 1 c.1

सांस्कृतिक निबन्ध

■ ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला हिन्दी-ग्रन्थाङ्क—१११

सांस्कृतिक निबन्ध

•

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

●

प्रथम संस्करण
१९६०
मल्य तीन रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

★

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल,
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

श्री भागीरथ कानोड़िया को

प्रस्तुत संग्रह मेरे निबन्धोंका है।

काशी,
१९-२-६०

—लेखक

• विषय-क्रम •

•

सांस्कृतिक निबन्ध

ऋग्वेदके रोमैण्टिक ऋषि

: ? :

ऋग्वेद प्रौढ़ साहित्य होता हुआ भी मनुष्यके आदिम उल्लासकी कृति है। उसे पढ़ते हुए जैसे हम उसमें घटित जीवनको छूने लगते हैं, उसके देवी-देवताओं तकको, क्योंकि उनका लेबास इन्सानी है, उनकी सूरत-शक्ल इन्सानी है, उनके भाव-विलास, प्रेम-द्वेष मानवीय हैं। और ऋग्वेदके मानव ? सर्वथा जीवित चलते-फिरते व्यक्ति, जिनके हर्ष-विषादकी पुकार हम सुन लें, जिनकी मानवीय दुर्बलताएँ सतहपर ही देख लें।

ऋग्वेदका जीवन कविका काता हुआ सूत नहीं, मानवका जिया हुआ जीवन है। उसमें उसके हास्यमें आँसू मिले हैं। जांगल जीवन वैसे भी रोमैण्टिक वातावरण पैदा करता है और जब उसके साथ प्रणयकी स्वच्छन्दता भी मिली हो तब समाजमें ऐसे व्यक्तियोंकी कमी न होगी जो शकुन्तला और वासवदत्ताको वरें।

ग़रज़ कि मानवजातिके उस महान् और तथाकथित धर्म-ग्रन्थमें रोमैण्टिक ऋषियों अथवा अन्य कवियोंकी कमी नहीं। प्रस्तुत लेखमें इन रोमैण्टिक ऋषियोंमेंसे केवल कुछका उल्लेख करेंगे। श्यावाश्व, कक्षीवान् और विमदका। संहितामें उनका बार-बार उल्लेख हुआ है, बार-बार उनके कार्योंके प्रति संकेत हुआ है; साधारण स्पष्ट वर्णन, प्रच्छन्न संकेत, प्रगट उदाहरण, उपमा आदिमें सर्वत्र उनकी कथा अनायास टपक पड़ती है।

श्यावाश्व कवि था। वैसे तीनों आभिजात्य थे, ऋषियोंके बेटे। पौरोहित्य विशवृत्तिसे वैसे ही पृथक् हो चुका था जैसे राजन्य-शक्ति कृषि-कार्यसे। सो श्यावाश्व कवि था, ऋषि-पुत्र कवि। परन्तु सदासे स्वभावसे

कवि वह न रहा था, हृदयकी दुर्बलताने, आकांक्षाकी उपेक्षाने, विफल प्रणयकी कष्टानुभूतिने उसे कवि बना दिया। उसका हृदय तब पिघलकर तरल धाराओंमें बह चला।

श्यावाश्वकी कहानी प्राचीन साहित्यके रोमांसोंमें-से है। वह ऋग्वैदिक कालकी जनताके लिए आदर्श बन गया जो तबके प्रेमियोंके लिए अनुकरणीय प्रतीक बन गया। वह जब जन्मा तब तक समाजमें धनी-निर्धनकी दीवारें खिंच चुकी थीं, राजाओंकी दाय पुश्तैनी हो चुकी थी, राजाका बेटा ही राजा होने लगा था, पुरोहितका बेटा ही ऋषि। परन्तु राजन्यों और पुरोहितोंमें विवाह स्वाभाविक रीतिसे होते थे और उनमें कोई सामाजिक-धार्मिक अवरोध न था। श्यावाश्व राजपुरोहितका पुत्र था।

तब राजा दर्भका पुत्र रथवीति गद्दीपर था और श्यावाश्वका पिता उसी रथवीतिका पुरोहित था। राजाकी एक कन्या थी, अभिराम सुन्दर। थी भी वह ऋषिपुत्र श्यावाश्वके प्रति अनुरक्त और श्यावाश्व तो उसके रूप-ज्योतिका शलभ था ही। समनमें, यज्ञमें, उत्सव-त्योहारोंपर सदा दोनों प्रणयी एक दूसरेसे मिलते और परस्पर रूप-गुणसे आकृष्ट होते। जो वक्तव्य शक्ति न कह पाती वह प्रणय-चेष्टा और भावभंगिमा चुपचाप स्पष्ट कर देती। आकर्षण अनुराग बना, अनुराग भावबन्धन प्रेम। खुले प्रेममें दुराव नहीं होता। श्यावाश्वने प्रेयसीको पत्नी बनाकर चिर सांनिध्य और गार्हस्थ्यका सुख भोगना चाहा। कुछ काल उसने अवसरकी प्रतीक्षामें प्रणयकी घनी चोटें भी सहीं, फिर एक दिन प्रेमाविष्ट वह रथवीतिके समीप पहुँचा और उससे उसने उसकी कन्या, अपनी प्रणयिनी, पत्नी-रूपमें माँगी, विवाहका प्रस्ताव किया। पिताको वह सम्बन्ध स्वीकार था पर रानीने ऋषिपुत्रकी वह प्रार्थना अस्वीकार कर दी। उसे श्यावाश्वके गुणोंमें कमी जान पड़ी। उसके दामादका आदर्श धनवान् कवि था। श्यावाश्व न धनवान् था, न कवि। रानीने अपनी राजसी समृद्धि देखी। कन्याकी अल्हड़ सुकुमार भावुकता और भावी जामाताका कठिन दारिद्रय,

उसकी कविप्रतिभाहीन शिष्टता देखी। रानीको वह अभाव खला। कौन उसकी कन्याकी बहुमूल्य आवश्यकताएँ पूरी करेगा? कौन उसके मर्मसे उठती साधोंको सार्थक करेगा? कौन उसके कवि-हृदयकी काम्य अमूर्त भावनाएँ साकार करेगा? रानीका भय सार्थक था।

आश्चर्य और अभाग्य कि श्यावाश्वका पिता धनी न था क्योंकि तब का पुरोहित उस परम्परामें था जिसमें मिस्रके पिरामिडों और ऊरकी क़ब्रोंके पुरोहित थे, धन-वैभव जिसका दास था, शक्ति जिसका वैतालिक। ऋषियों, विशेषकर, ऋषि-पुरोहितोंको जैसे दानमें मिली वधुओंकी कमी न थी, द्वार पर खड़े घोड़ों-रथोंकी भी कमी न थी, बखारमें भरे अन्नकी भी सीमा न थी, घरमें सोनेकी चमककी भी कमी न थी। पर दुर्भाग्य कि पिताके पास धन न था। श्यावाश्व उस कवि-परम्परामें भी जन्मा था जिसके ऋषिने उषाके ललित गानकर काव्य-जगत्में अपना साका चलाया था। पर अभाग्य कि स्वयं उसकी जिह्वासे भारती मुखरित न हुई थी। विवाह रुक गया, युगल प्रणयी विलग हो गये।

श्यावाश्व कवि न था, पर निःसन्देह कवि-हृदय था। अटूट कवि-परम्पराकी अव्यक्त दाय उसकी थी। और अब जो मर्मको ठेस लगी तो राग-रस चू पड़ा। राजकन्याका मादक सौन्दर्य, उसका मदिर भाव-विन्यास श्यावाश्वके कन-कनमें रम गया। उन्हें वह भुला न सका। नीरव एकान्त उसके प्रणयको शक्ति और शालीनता देने लगा, स्मृति टीसने लगी। प्रणयकी चेतना कष्टकी चेतना है, चोटकी अनुभूति। ऋषिपुत्र विलख उठा। यह प्रणयकी परिणति थी, नये रसका संचार, जो निर्जनतामें उसका सहायक हुआ। श्यावाश्व गुनगुना पड़ा। हृदय उसका सुकुमार था, मानस विमुग्ध, चित्त चिन्ताकुल। व्यक्तकी आकृति और सीमा होती है, अव्यक्त अप्राप्तकी न आकृति न सीमा। एकाकीका माधुर्य गरिम प्रणयकी अनन्त अभिराम आकृतियाँ सिरजता जाता, स्वप्नकी साधें अविकल भाव-नाएँ जनती जातीं, रूप-आकर्षणकी काम्य कल्पना सम्मोहक चित्र मानस-पट

पर लिखती जाती। भावबन्धकी गाँठें खुल पड़ीं, सोतेका निर्मल रस अन्तरसे उमड़ आया, कविकी वाणी फूट पड़ी। उपेक्षित प्रणय आर्त स्वरमें चीत्कार कर उठा। कविका करुण विलाप छन्दके परोंपर दिशाओं में तिर चला, उसने आकाशकी परिधि नाप दी। श्यावाश्व अब कवि था, व्यापक यशका धनी।

श्यावाश्वकी ही भाँति प्रेममें असफल एक और जन था—राजकुमारी शशीयसी। उसका आभिजात्य उसके द्वारे उत्सुक विवाहार्थियोंकी भीड़ लगाये रखता। परन्तु उसने उन सबको अस्वीकृत कर दिया। उसका उपास्य कोई और था, सुन्दर राजन्य कुमार, राजा पुरुमिल्हका तनय। पर उसका प्रियपात्र उसे न मिला। राहमें कुछ कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं। सम्भवतः राजकुमार जानता न था कि शशीयसी उससे प्रेम करती है, शायद वह किसी कारण विवाहके लिए तैयार न था। राजकुमारी प्रणयके दाहसे घुलने लगी।

तभी उसने श्यावाश्वकी करुण कहानी सुनी। उसके काव्य और प्रणय-पीड़ाने समानधर्मिणी शशीयसीका मर्म छू लिया। उसने सोचा उसका सखित्व-कल्याणकर होगा। वह समान व्यथासे व्यथित है। प्रेमके मारे व्यक्तियोंका उसका हृदय उचित दौत्य कर सकता है, कुमारीने जाना, और उसे बुला भेजा। उससे अन्तरका मधुर रहस्य कहा और पुरुमिल्ह-तनयके प्रति प्रणय-सन्देश वहन करनेकी प्रार्थना की। स्वाभाविक ही इस हेतु श्यावाश्वसे अधिक समर्थ दूत नहीं मिल सकता था। उसने उस रागकी ध्वनि अपने भीतर सुनी थी, उसका कष्ट उसके रोम-रोममें व्यापा, सन्देश लेकर वह चल पड़ा। वह कवि था, साथ ही प्रेमका मारा। उसका दौत्य सफल हुआ। शशीयसीने अनुरक्त पुरुमिल्ह-पुत्रको वरा। उपकृत दम्पतिने दूतको अपनी उदारतासे गद्गद कर दिया, गौओं, घोड़ों और रथोंसे कविका घर भर दिया।

उपकृत कविने गाया—"शशीयसीने मुझे गायोंके ढोर दिये, घोड़ोंके

झुण्ड दिये, सैकड़ों रथोंके दल। श्यावाश्वके दिये उस पतिके बदले जिसकी वह शक्ति बनी (१०, ६१, ५)। अन्य नारियोंसे कितनी भिन्न है यह शशीयसी, उन पुरुषोंसे कितनी भिन्न, अमित उदार, जो देवहीन हैं लाभ-चिन्तनमें निमग्न हैं! (वही, ६) देवताओंमें भी वह उसीको खोजती है जो विश्रान्त है, तृषित और उत्सुक है। उसीको वह अपना मानस समर्पित करती है।" (वही, ७)

दौत्यकी सफलता स्वयं श्यावाश्वकी असफलतापर भयानक व्यंग्य थी। शशीयसीके प्रति उसका गान स्वयं उसके उपेक्षित प्रणयका उपहास कर उठता। पीड़ित अन्तर फिर बह चलता, उसका स्वर रातके सन्नाटे और उसकी हवाको चीर चलता। उसकी विकम्पित वाणी पुकार उठी। संसारके पहले यक्षने गाया—

"रात्रि, मेरा सन्देश दर्भतनयके समीप पहुँचा। देवि, तू मेरी गिराका रथ बनकर जा!" (वही, १७,)

"जब रथवीति अग्निमें आहुति डालता हो, तब तू उससे मेरा सन्देश कह। कह कि तेरी सुताके प्रति मेरा मोह कम नहीं हुआ, आज भी जाग्रत है।" (वही १८)

यक्षकी आर्त पुकार रथवीतिने सुनी। उसकी रानीने सुनी। शशीयसी-की उदारताने उसे सम्पन्न कर दिया था, प्रणय-तपने उसे अप्रतिम कवि। राजकन्याने श्यावाश्वको वरा, उसके माता-पिताने आतुरतासे ब्याहकी अनुमति दी। कवि आनन्दविभोर गाता रहा। ऋग्वेदके प्रायः दस सूक्त उसके हैं। अनेक सन्दर्भोंसे उसकी लोकप्रियता सिद्ध है।

कक्षीवान् ऋग्वेदके महान् द्रष्टा ऋषियोंमें हैं। दो राजाओंके वे दामाद थे, परन्तु स्वयं थे वे दासी-पुत्र (१, ११८, १; ११२, १)। तब अनेक राजा और ऋषि शूद्राओं अथवा अनार्य दासियोंसे विवाह करने लगे थे। उनसे उत्पन्न पुत्र भी औरस माने जाते थे। कक्षीवान्के पिता महर्षि,

पत्नीने भी दासीको रख लिया था जिससे कक्षीवान् उत्पन्न हुए। औरस तो वे थे ही, ऋषियोंने उनको बड़ा माना था।

कक्षीवान् बहुपत्नीक थे। उन्होंने कमसे कम दो विवाह किये थे। दोनों पत्नियाँ अभिजात क्षत्रिया थीं, राजाओंकी दुहिता (१, १२६, ३; १, ५१, १३)। पहली रोमशा राजा भाव्यकी पौत्री और स्वनय भावयव्यकी पुत्री थी, घोषाके पिताके नामका ऋग्वेदसे स्पष्ट परिचय तो नहीं मिलता परन्तु कही वह भी 'राज्ञः दुहिता' (१०, ४०, ५) गई है जिससे उसका राजघरानेकी कन्या होना प्रगट है।

कक्षीवान् विद्याध्ययन समाप्तकर गुरुके गृहसे पिताके घर लौट रहे थे जब थककर पेड़ोंकी घनी छायामें राहमें हो वह सो गये। राजा भाव्यका पुत्र स्वनय तभी उधरसे रथपर निकला। ब्रह्मचारीको भूमिपर सोया देख उसने उसे जगाकर रथपर चढ़ा लिया। कक्षीवान्की बातचीतसे स्वनय बड़ा प्रभावित हुआ। नयी आयुमें इतना ज्ञान देख ब्रह्मचारीपर वह मुग्ध हो गया। उसकी रोमशा नामकी बड़ी सुन्दरी कन्या थी। उसके लिए कक्षीवान्को उसने समुचित बर माना और उसे पिताके पास ले गया। कक्षीवान्का अध्ययन समाप्त हो चुका था, अब उसे गार्हस्थ्यमें प्रवेश करना ही था, उधर जो उसने राजकन्याकी विनय और प्रतिभा देखी तो उसके पिता-पितामहका अनुरोध मान रोमशासे विवाह कर लिया। पत्नीके अतिरिक्त विवाहमें उसे अमित धन-धान्य, हिरण्य, अनेक वधुएँ (विवाह करने योग्य दास-कन्याएँ), मवेशियोंके ढोर, घोड़े और रथ मिले।

सारी धन-सम्पत्ति और जाया लिये कक्षीवान् पिताके घर पहुँचा और वहाँ उसने अपने इस रोमैण्टिक विवाहकी कथा कही। तब उसकी नववधू रोमशाने सविनय अपने ससुरके समीप जा अत्यन्त आत्मीयतासे कहा—

"इन्होंने मुझे पत्नी रूपमें ग्रहण किया है, और मैं इनके प्रति वैसे ही अनुरक्त हूँ जैसे अश्वारोहीके करमें चिपकी हुई कशा। मेरे पति मुझे हज़ार यत्नोंसे सुखी करते हैं।" (१,१२६,३–६)

"मुझे समीप आनेकी अनुमति दें। मुझ अबलापर प्रसन्न हों! मैं सदा रोमशा रहूँगी, गन्धारके मेमनोंकी भाँति सर्वदा रोमशा, विनीता।" (वही, ७)

पीछे कक्षीवान्‌ने एक और विवाह किया। वह घोषा थी, राजदुहिता (१०,४०,५), और स्वाभाविक ही पतिका उसका आदर्श "अनेक अश्वोंका स्वामी धनी रथी" राजन्य था। पर अभाग्यवश त्वचा रोगसे आक्रान्त हो जानेके कारण उसकी कामना पूरी न हो सकी और दीर्घकाल तक वह अविवाहिता ही रही। पिताके गृहमें ही उसके केश श्वेत हो चले। फिर अश्विनोंकी स्तुतिके फलस्वरूप उसे कक्षीवान्-सा वर मिला। कक्षीवान्‌ने उसे स्वयं वृद्धावस्थामें ब्याहा था और इस प्रकार समानने समानको वरा। घोषाका नाम ऋग्वेदमें अनेक बार आया है। (१,११७,७,१०,३६ आदि) साथ ही संहिताके दसवें मण्डलके दो समूचे सूक्त, ३९ और ४० उसी नारी ऋषिकी कृतियाँ हैं।

महर्षि कक्षीवान्‌को वृद्धावस्थामें विवाह करनेका तिक्तफल भी च्यवनादिकी भाँति भोगना पड़ा। स्पष्ट पता तो नहीं चलता कि वृद्धावस्थाके कारण स्वयं वे क्लीव हो गये थे या उनकी पत्नी ही वन्ध्या थी, परन्तु वे सन्ततिके लिए स्वयं भी (१०,३९,७) घोषाकी ही भाँति (१,११७,२४) अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करते हैं। कहते हैं, "तुम दोनों क्लीवकी पत्नी (वध्रिमत्या) की स्तुति सुन उसके पास चले आये थे और सुखी पत्नीको सुन्दर सन्तति प्रदान की थी।" उसी प्रकार घोषा भी कहती है, "वीरो, तुमने असीम उदारतापूर्वक क्लीवकी पत्नीको हिरण्यहस्त नामका पुत्र प्रदान किया था।" उनका तात्पर्य अपने लिए सन्तान माँगनेसे है। अश्विनीकुमार दिव्य वैद्य हैं जो अचूक औषधियोंका वितरण करते हैं और ऋग्वेदमें क्लीवों और वन्ध्याओंके विशेष आराध्य हैं।

विमद भी ऋग्वेदका ब्राह्मण ऋषि है। उसने कमद्यु अथवा शुन्ध्युको ब्याहा। वस्तुतः दोनोंमें परम्परया विवाह नहीं हुआ। दोनों प्रणय-निर्वाह-

के लिए भाग गये थे (१,९२,४) । विमद और कमद्यु ऋग्वैदिक युगके रोमियो-जूलियट थे । कमद्यु राजन्या थी, राजा पुरुमिल्हकी दुहिता, उस शशीयसीकी ननद जिसके भाईके प्रति प्रणय-दौत्यकर शशीयसीको श्यावाश्वने निहाल किया था । विमद और कमद्यु एक दूसरेसे प्रेम करते थे । परन्तु विवाहार्थ जब विमदने राजासे अनुमति माँगी तब राजाका राजत्व आड़े आ गया । निर्धन ब्राह्मणसे अपनी कन्याका विवाह उसे इष्ट न था और उसने वह सम्बन्ध अस्वीकृत कर दिया । पर प्रणयियोंपर स्निग्ध प्रेम छाया हुआ था, वे स्वयं भी करणीयसे विमुख न हो सके । श्यावाश्व और रथवीति-कन्यासे वे सर्वथा भिन्न थे । पति-पत्नी बनना निश्चित कर दोनों अनजाने स्थानको भाग गये । अब माता-पिताने उनके निश्चयमें बाधा डालना उचित नहीं समझा और उनका सम्बन्ध स्वीकार कर लिया । उस काल वह घटना भी पर्याप्त लोकप्रिय हो गई थी उसका उल्लेख अनेक ऋचाओंमें हुआ है (१, ११२, १९; ११६, १; ११७, २०; १०, ३९; ७, ६५, १२) । लगता है विमद भी बादमें क्लीव हो गया था और उसे भी सपत्नीक च्यवनसे पाण्डु काल तकके क्लीवोंके सहायक अश्विनीकुमारोंकी सन्ततिके लिए स्तुति करनी पड़ी ।

ऋग्वेदके समन : २ :

ऋग्वेदमें मधुर और मनोरंजक स्थलोंकी कमी नहीं। उसके धर्मेतर मधुर सामाजिक प्रसंग कोड़ियोंमें गिने जा सकते हैं। यहाँ हम केवल एक "समन" का उल्लेख करेंगे।

उस प्राचीन मानव ग्रन्थमें उत्सवों और त्योहारोंसे मिलते-जुलते एक प्रकारके मेलेका उल्लेख हुआ है जिसे 'समन' कहते थे (ऋ० १, ४८, ६; १२४, ८; ४, ५८, ८; ७, २, ५; ९, ४; १०, ८६, १०)। स्त्रियाँ, विशेषकर कुमारियाँ, वरकी खोजमें वहाँ जाती हैं। उसमें घुड़दौर और रथधावन (वही, १०, १६८, २) बड़ी तत्परतासे होते थे। वह मेला रातमें होता था। चमकती मशालोंके उजालेमें (**सुसन्दृशा भानुना यो विभाति**, वही, ७, ९, ४) कुमारियाँ मधुर मुसकराती हुई (**स्मयमानासो**) वहाँ जाती थीं और अनेक बार खेलमें वहाँ सारी रात गुज़ार देती थीं (वही, १, ४८, ६; १०, ६९, ११)। प्रेमियोंके सम्मिलन और सम्भाव्य वर-वधूकी खोज (वही, ७, २, ५) की सुविधा समन विशेष रूपसे प्रदान करते थे। कुछ अजब नहीं कि इस प्रकारकी स्वतन्त्रता जब तब आचरणमें दोष उत्पन्न कर देती रही हो। आखिर संहितासे समाजकी अनुमति न मिलनेसे प्रणय-साधनके निमित्त प्रणयियोंके भाग जानेके अनेक संकेत मिलते हैं (वही, १, ११२, १९; ११६, १; ११७, २०; १०, ३९; ७, ६५, १२)। सम्भव है अन्यत्र उस समाजमें ऐसी स्वतन्त्रता सम्भव न रही हो। परन्तु समन कुमारियाँ प्रमाणतः अपने प्रेमियोंके साथ घूमती थीं (७, २, ५; ४, ५८, ८; अथर्ववेद, २, ३६, १)। अनेक प्रणयी-युगलके लिए समन संकेत-स्थानका कार्य करते होंगे। अनेक बार तो कुमारियोंकी माताएँ स्वयं वर

आकृष्ट करने योग्य उनका प्रसाधन करती थीं (**सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषा**)। अनेक अवांछित वरोंकी साध वहीं पूरी होती थी (अ० ४, ५८, ८; ७, २, ५)।

वस्तुतः विवाहका कार्य और गुरुजनोंका दायित्व अधिकतर समनकी संस्था द्वारा पर्याप्त हल्का हो जाता होगा। अनेक विचारों, भिन्न रुचियोंके कुमार-कुमारी वहाँ बड़ी संख्यामें मिलते होंगे जिससे चुनावके कार्यमें प्रचुर सुविधा हो जाती होगी। सम्भाव्य वर-वधू सर्वदा पूर्ण नहीं होते। सबमें कोई न कोई कमी होती ही है, किसीमें रूपकी, किसीमें गुणकी, किसीमें शौर्यकी, किसीमें धनकी। किन्तु यदि सभी प्रकारके लोग एकत्र कर दिये जायँ तो रुचिवैचित्र्यकी अनेक खामियाँ अपने आप व्यवस्थित हो जायँ। कुछ आश्चर्य नहीं कि समनोंमें सूर्य-रश्मियोंकी-सी प्रसाधनसे दमकती नारियाँ झुण्डकी झुण्ड चल पड़ती हों (**व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्य्यस्यांज्यङ्क्ते समनगा इव व्राः**—वही, १, १२४, ८)। इसी प्रकार अन्यत्र भी समनको जानेवाली कुमारियोंका उल्लेख हुआ है—"**पूर्वी शिशुं न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन्**"(७, २, ५)। इस प्रकार एक उपमामें वायुप्रेरित व्यक्तिकी भाँति नारियोंके समनकी ओर जानेकी बात कही गई है, "**सम्प्रेरते अनुवातस्य विष्टा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः**" (१०, १६८, २)। समनमें यज्ञ होमादि भी होते थे। ऋग्वैदिक कवि अग्निके प्रकाशमें युवतियोंके समुज्ज्वल वदनको स्मित हास्यसे प्रफुल्लित देखता है—"**अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्**" (४, ५८, ८)। इन समनोंमें यौन-सम्बन्धिनी देवी इन्द्राणीकी विशेष पूजा प्राचीन प्रथाके अनुसार हुआ करती थी। ऋषि कहता है कि सनातन कालसे नारी (इन्द्राणी) समन और यज्ञोत्सवको जाती हैं—"**संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति**" (१०, ८६, १०)।

जर्मन पण्डित केगीने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेद' (पृ० १९) में समनके उत्सवका सुन्दर संक्षिप्त उदाहरण दिया है—"पत्नियाँ और कुमारियाँ

प्रसन्न वसनोंसे अलंकृत समनकी ओर चल पड़ती हैं। जब वन प्रान्तर और खेत हरियालीसे ढक जाते हैं तब युवा और युवतियाँ सहनृत्यकी ओर हरे फैले मैदानोंकी ओर दौड़ चलती हैं। मृदंग धमक उठते हैं, तरुण-तरुणियाँ एक दूसरेका हाथ पकड़ नाचने लगती हैं और तबतक नाचती रहती हैं जबतक उनके साथ भूमि और दिशाएँ नहीं चक्कर खाने लगतीं और उनके नाचते समुदायोंको जब तक धूलके बादल नहीं घेर लेते।" प्रगट है कि समनोंका नृत्य—और वह सामूहिक—आवश्यक अंग था। "वैदिक इण्डेक्स" के प्रणेताओंने इस प्रसंगमें पिशेलको उद्धृत किया है। पिशेलका कहना है कि 'समन एक प्रकारका मेला था जहाँ आमोदके लिए नारियाँ जाती थीं—युवतियाँ और प्रौढ़ाएँ पतिकी खोजमें और वेश्याएँ मौक़ेसे लाभ उठाने'। यह भी अनुमान किया जाता है कि समनोंमें ही सम्भवतः नाटकीय रंगमंच का भी उदय हुआ। पहले सम्भवतः वहीं यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी, पुरुरवा-उर्वशी आदिके संवाद होते थे जो पहले केवल डायलाग रूपमें थे फिर नाटकोंके आधार बन गये।

ज़ाहिर है कि समन समाजके बदलते हुए आचार-नियमोंमें पश्चात्काल-में नहीं खप सकता था। निरन्तर संकीर्ण होती जाती हिन्दू समाजकी परिधिमें उसका समा सकना कठिन था। फिर उसके स्वच्छन्द वातावरण-का अनाचारतः दूषित हो जाना भी कुछ अस्वाभाविक न था। यही समन उत्तरयुगोंके मौर्य्यकालमें समाज या 'समज्जा' कहलाया। समज्जाकी स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते समन तत्कालीन समाजको असह्य हो गया और सम्राट् अशोकको उसे कानूनन बन्द कर देना पड़ा। चौदह शिलालेखों-की पहली घोषणा समज्जाका इस प्रकार निषेध करती है—"न अब कोई समाज हो सकेगा क्योंकि देवानां प्रिय पियदसी राजा (अशोक) इस समाजमें बहुत अनौचित्य देखता है। परन्तु उसके कुछ ऐसे प्रकार भी हैं जिनको पियदसी राजा मुनासिब मानता है।" 'दीघनिकाय' में अनुचित प्रकारसे समज्जाको नृत्य, गायन, संगीत, कथा, मृदंग और ढोलकके

षडंगोंसे युक्त कहा है। धम्मपदकी टीकामें जिस समज्जाका उल्लेख है उसके चलानेवाले ५०० अभिनेता हैं जो बहुमूल्य पुरस्कारके बदले राजगृहके नृपतिके सामने प्रतिवर्ष अथवा प्रति षण्मास प्रदर्शन करते हैं। इस कम्पनीके प्रदर्शन सात-सात दिन तक चलते थे। उसके प्रसिद्ध खेलोंमें एक ऐसा था जिसमें अल्हड़ सुन्दरी खड़े बँधे लट्ठेपर चलती, गाती और नाचती थी। एक बार तो ऐसा अनर्थ हुआ, जो अस्वाभाविक किसी प्रकार न था, कि अखाड़ेके मंचपर बैठे (मंचाति मंचेत्थित्) दर्शकोंमें-से एक धनी सेठका बेटा, उग्गसेन तरज्जु-नर्तकी-अभिनेत्रीके प्रेम-पाशमें बँध गया। इसी प्रकार विनय पिटकमें भी राजगृहकी पहाड़ीपर होनेवाले समाज-का उल्लेख हुआ है जिसमें नृत्य, संगीत (३, ५, २, ६) होते हैं। उसीमें एक और प्रकारके समाजमें प्रीतिभोजादि होनेका ब्यौरा मिलता है (४, ३७, १)। महाभारतमें समाज शैव उत्सवके रूपमें व्यवहृत हुआ है। उसमें आपान (मद्य-पान), नृत्य, गान आदि होते हैं। (हापकिन्स, एपिक मिथालोजी, पृ० ६५, २२०)। कौटिल्यने अपने 'अर्थशास्त्र' (२, २५) में 'उत्सव समाज' और यात्राका उल्लेख किया है। उसके अनुसार इनमें चार दिनोंतक अविराम मद्यपान होता था। अन्यत्र (१३, ५) उसी महान् आचार्यने विजेताको सलाह दी है कि उसे अपने विजितों-को अनुकूलचेता उनके देशप्रेम, देश-दैवत-प्रेम और उनकी उत्सव, समाज, यात्रा आदि की-सी संस्थाओंके आदर द्वारा बनाना चाहिए। स्पष्टतः कौटिल्यकी दृष्टि समाज-शास्त्री और आचार-निर्माताकी नहीं नीतिज्ञ-की थी।

इस प्रकार जान पड़ता है कि समाज या समज्जा एक प्रकारका समन ही था। सम्भवतः उत्तरकालीन सामाजिक परम्परामें उसके आपान, नर्तन, गायन आदि सह्य न हो सके और उन्होंने अपनी दूषित समाजविरोधी आजकी फिल्मोंकी-सी अशिव छाया डाली। धम्मपदकी टीकावाली उद्धृत घटना समन अथवा समाजमें सामान्य हो गई होगी। इसी उपेक्षणीय प्रकारके

समाजका अशोकने विरोधकर उसे घोषणा द्वारा बन्द कर दिया था। पश्चात्कालमें अशोककालीन समाजने और गुरुतर अपराध करना शुरू किया। उसकी परिणति कालान्तरमें एक नितान्त घृणित संस्थामें हुई जिसका सम्बन्ध वेश्याओं, गणिकाओं और गायिका-नर्तकियोंसे था। उनके दलमें रहकर सारंगी आदि वाद्य-साज बजानेवाले सफ़रदे उत्तरप्रदेश और बिहारके सूबोंमें आज भी 'समाजी' कहलाते हैं जो अपने नाममें समन तथा समाजकी प्राचीन स्मृति जीवित रखे हुए हैं। सम्भव है समनका दूरका सम्बन्ध श्रावण मासमें शिव मन्दिरोंमें होनेवाले नाच-गानके प्रदर्शनों-से भी रहा हो। पंजाबमें उन्हें सामन कहते हैं जो प्रगटतः श्रावणका अपभ्रंश है।

ऋग्वेदके समाजमें, जैसा ऊपर कहा गया है, समन न केवल विनोद और खेल-कूदके उत्सव थे, वरन् वे एक सामाजिक आवश्यकताकी भी पूर्ति करते थे। परन्तु उनका संगठन इस प्रकारका था कि उनका कालान्तरमें अत्यन्त घृणास्पद हो जाना स्वाभाविक था। फिर भी यह कुछ कम महत्त्व-की बात नहीं है कि अपने प्रकृत अथवा परिवर्तित रूपमें बहुत कालतक वे चलते रहे और आज भी अनेक दिशाओंमें अपने प्रतिनिधि छोड़ गये हैं। आजके 'कार्निवल' उनसे विशेष भिन्न नहीं।

ऋग्वेदका जुआरी : ३ :

जो लोग ऋग्वेदको केवल धर्मकी पुस्तक मानते हैं उन्हें पता नहीं कि उस संहितामें कितना लौकिक-सामाजिक सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। अनेक बार तो उसमें समाजका प्रतिबिम्ब इतना स्पष्ट झलक पड़ता है कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। दसवें मंडलका ३४वाँ सूक्त एक जुआरीकी दिनचर्या और दुर्बलताका मनोहारी वर्णन करता है। उसकी मार्मिकता हृदयको छू लेती है। वर्णन वस्तुतः इतना सजीव, इतना मांसल हुआ है कि लगता है, तत्सामयिक समाजका एक पृष्ठ खुल पड़ा हो। जुआरी बार-बार जुआ खेलना छोड़ देनेकी शपथ लेता है, बार-बार पाँसेकी मदिर ध्वनि उसे मत्त कर देती है, और वह सब कुछ दाँवपर लगा कर फिर हार जाता है। सूक्तका देवता भी जुआ ही है, और उसका ऋषि अंशतः स्वयं जुआरी। चित्रण सर्वथा मानवीय और पार्थिव है।

सूक्त कहता है कि जुआरी दिन-रात जुआ खेलनेके सार्वजनिक हालमें उसके स्तम्भकी भाँति अड़ा रहता है। मेज़पर अक्ष (पाँसे) के गिरते ही उसकी बाछें खिल जाती हैं, उनके मदसे वह उन्मत्त हो जाता है—**'प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः'** (१०, ३४, १)। स्पष्ट है कि पाँसेका प्रभाव उसपर वैसा ही होता है जैसे शराबका पियक्कड़पर। वह अपनी सारी संपत्ति जुएमें हार चुका है और बादमें अपनी पत्नी तकको दाँवपर लगाकर हार जाता है। तब उसकी आँखें खुलती हैं और वह आर्तनाद कर उठता है। उसकी प्रियतमा पत्नी 'अनुव्रता' (पतिव्रता) है, उसकी द्यूतरतिका सारा परिणाम वह चुपचाप सहती है। कभी उसपर क्रोध नहीं करती, सदा उसके और उसके मित्रोंके प्रति

कल्याण-भाव रखती है—**'न मा मिमेथ न जिहल एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्'** । (१०, ३४, २)

ऐसी पत्नीको जुएमें खोकर जुआरी स्वाभाविक ही कठिन यातनाका अनुभव करता है । कहता है—अक्षके लिए मैंने पतिव्रता पत्नीको खो दिया (**अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्**—वही) । पाँसेकी झंकार उसे इतना अन्धा बना देती थी कि दाँवपर जोती जानेके पहले उसकी पत्नी उसके प्रियाचरणसे विरहित हो जाती थी । उसने चाहे अपना वह अभाग्य चुपचाप सह लिया पर उसके दाँवपर हार दिये जानेके बाद उसकी माँ, जुआरीकी सास, क्षुब्ध शत्रु हो उठी (**द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि**—वही, ३) । और अब उस अभागेका 'अपना' कोई नहीं रह गया (**न नाथितो विन्दते मर्डितारम्**—वही) । अपनी हीन दशापर सहसा जुआरी रो पड़ता है—'वृद्ध कमज़ोर घोड़ेसे जैसे कोई लाभ नहीं जुएसे मैं भी कोई सुख नहीं पाता' (**अश्वस्येव जरतो वस्त्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्**—वही) । संपत्तिविरहित पत्नीको भी दाँवपर खोकर जब वह दूसरों द्वारा उसे दुलारे जाते देखता है तब उसकी दशा और भी दयनीय हो उठती है (**अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः**—वही, ४) ।

वह जुएमें घरकी सम्पत्ति हारकर ऋण लेता है, बार-बार ऋण लेनेसे वह महाजनोंका शिकार हो जाता है और तब उसके सारे स्वजन—माता, पिता, भाई उसे छोड़ देते हैं । उसे पकड़ ले जानेवाले महाजनोंसे कहते हैं—'उसे बाँध लो । बाँधकर अपने साथ ले जाओ । वह हमारा कोई नहीं' (**पिता माता भ्रातर एवमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्**—वही) । जुआ न खेलनेका शपथ तो वह करता है पर जब उसके जुआरी मित्र उसे त्याग देते हैं (**यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः**—वही, ५) और जब अक्ष फेंके जानेसे द्यूत-फलक पर खनखना उठते हैं तब वह बेहाल हो जाता है । वह और नहीं रुक पाता, 'जारिणी'की भाँति

संकेतस्थानकी ओर जैसे दौड़ पड़ता है (वही, ५)। अगले चार छन्दोंमें असाधारण शक्ति और प्रौढ़ शैलीमें जुएका जादू खुल पड़ा है—

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामती तन्वाशूसुजानः ।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रातिदीन्वे दधत आ कृतानि ॥
अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तपयिष्णवः ।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणाः ॥
त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥
नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥

(ऋ० १०, ३४, ६–९)

"जुआरी द्यूतस्थल (सभा) पर पहुँचता है, (शंकाओंसे) तनमें आग लगी है ।—पूछता है—क्या जीतूँगा ?
अक्ष (पाँसे) उसकी कामनाको जगा देते हैं, वह अपना धन विपक्षीके विपरीत दाँवपर लगा देता है ।"

"अक्ष, धन आदिसे संयुक्त, धोखा देते हैं, तपाते हैं, संताप जनते हैं । जीतनेवालेको पहले थोड़ी जीतसे लुभाकर वे उसका सर्वस्व अपहृत कर नाश कर डालते हैं, जुआरीके सुन्दरतम धन द्वारा स्वयं अभिषिक्त होते हैं ।"

"सत्यधर्मा देव सविताकी भाँति तिरपनका उसका प्रसन्न दल खेलता है । वे शक्तिमान् (उग्र) के आगे भी नहीं झुकते; राजा स्वयं उनकी अर्चना करता है ।"

"अक्ष सहसा नीचे आते हैं, फिर ऊपर उठ जाते हैं, स्वयं करविहीन पर हस्तवन्तोंको अपनी सेवाके लिए वे बाध्य करते हैं ।
जादूके अंगारोंकी भाँति ढाले जाते हुए स्वयं तो वे शीतल हैं पर दर्शकोंके हृदय जलाकर क्षार कर डालते हैं ।"

जुआरी अपने दोषको समझता है, उसके अशिव परिणामको झेलकर बारम्बार पाँसा न छूनेकी क़समें खाता है पर जुएका मोह उसे बार-बार

घर दबाता है, उसे लाचार कर देता है। खेलता है, हारता है, फिर खेलता है, फिर हारता है। क्रोध और लालच उसे विमूढ़ कर देते हैं। उसकी हार ही उसे फिर खेलनेको मजबूर करती है। मधुरसे मधुर, क़ीमतीसे क़ीमती चीज़ दाँवपर उससे धरवा देती है। सब हार जाता है। कर्ज़ लेकर फिर खेलता है, फिर हार जाता है। और एक रात जुआ उसका सर्वनाश सम्पन्न कर देता है। निराशासे पागल, भयसे संत्रस्त, महाजन द्वारा अनुसृत, वह घर लौटता है, सबसे भागकर शरण लेने। घरके द्वार उसके लिए बन्द हैं। द्वार ठकठकाता है पर वे नहीं खुलते, क्योंकि वे अनजाने बन्द नहीं किये गये हैं। हारी हुई परित्यक्ता पत्नीकी शोचनीय दशा उसे विचार करनेको मजबूर करती है। घरका द्वार बन्द होनेसे बाहर पड़ा वह सोच रहा है—"दूसरोंकी पत्नियाँ कितनी सुखी हैं! औरोंके परिवार कितने भाग्यवान् हैं!" नलका परवर्ती, युधिष्ठिरका पूर्ववर्ती, वह जुआरी रात्रिके अन्धकारमें अपने कियेपर पछताता है, परन्तु प्रभातके साथ आशा लौट पड़ती है और अक्षपर झुकी हुई उसकी चिरचेष्टा नवीन हो आती है। 'उषाकी ही भाँति वह भी अपने अक्षरूपी घोड़ोंको जोत देता है' (**पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे**)।

अन्तमें उसे पत्नीकी साधना और तपसे समझ होती है और वह परिवारकी ओर आकृष्ट होता है। ऋषि उस प्रकृतिस्थ जुआरीका स्वागत करता है—"जुआ न खेल, न खेल जुआ। अपने खेतोंको जोत। प्राप्त धनको बहुत मानते हुए उसीमें रम, उसका सुख मान। वो तेरी गौएँ हैं, और वह तेरी जाया...."

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ (वही १३)

ऋषिकी यह शालीन गिरा रेस-कोर्सके शौक़ीनोंके लिए आज भी चिन्तनीय है।

ऋग्वेदमें अगम्यागमन : ४ :

मैंने प्रस्तुत लेखमें "इन्सेस्ट" शब्दका व्यवहार किया है, कारण कि हिन्दी या संस्कृतका कोई शब्द उस अर्थको प्रगट नहीं करता जो इस अंग्रेज़ी शब्दमें निहित है । इन्सेस्टका अर्थ है भाई-बहिन, पिता-पुत्री, माता-पुत्रका परस्पर यौन सम्बन्ध । ऋग्वेदके कतिपय संकेतोंसे इन्सेस्टके ऋग्वैदिक समाजमें एकांशमें प्रचलित होनेकी बात कही गई है । प्रस्तुत लेखमें हम उसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे ।

विषय वस्तुतः अत्यन्त विवादास्पद है । कुछका कहना है कि इस प्रकारका यौन सम्बन्ध वैदिक जीवनमें सर्वथा अनजाना था और ऋग्वेदमें उसका उल्लेख नहीं मिलता । कुछ पण्डितोंका मत इससे भिन्न है । हम यहाँ बग़ैर उस वादविवादमें पड़े सीधे उपलब्ध सामग्रीपर विचार करेंगे । आरम्भमें ही यह कह देना उचित है कि ऋग्वेदकी स्वल्प सामग्री पौराणिक परम्पराओं और बौद्ध जातकोंके साथ अध्ययन करनेपर जो पूर्व-मध्य-परकी एक क्रमिक संगति बैठ जाती है उससे ऐसा लगता है कि किसी-न-किसी समय किसी-न-किसी मात्रामें इस प्रथाका आर्य समाजमें प्रचार रहा होगा । ऋग्वैदिक तथा अन्य प्रमाणोंसे जान पड़ता है कि प्रथा उस समाजमें किसी प्रकार अनुचित नहीं मानी जाती थी । उस सम्बन्धका दो रूपमें अध्ययन समीचीन होगा—भ्राता-भगिनी सम्बन्ध और माता-पिता, पुत्र-पुत्री सम्बन्ध । हम पहिले भ्राता-भगिनी सम्बन्धपर विचार करेंगे ।

भ्राता-भगिनी यौन सम्बन्धका सबसे सबल प्रमाण ऋग्वेदके दसवें मण्डलके दसवें सूक्तमें यम-यमी संवादमें मिलता है । यम-यमी जुड़वें भाई-बहन हैं, पहले मानव जोड़े (दम्पति), जिनसे मानव जातिका प्रारम्भ

होता है। दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध बहुत कुछ उस प्राचीन इब्रानी परम्परासे है जिसमें नारी नरके ही एक अंगसे प्रसूत होती है और दोनों मिलकर मानवजातिकी सृष्टि करते हैं, उसके आदि पितर बनते हैं। ये भारतीय परम्पराके आदिम मर्त्य-युगल भी उसी प्रकार जुड़वे माने गये हैं। यह विचार स्वयं यमीके वक्तव्यमें रखा गया है। "गर्भमें ही", यमी यमसे कहती है, "स्वयं त्वष्टाने हम दोनोंको पति-पत्नीके रूपमें रखा था।" आरम्भमें ही यह स्पष्ट कर देना उचित है कि संवाद असाधारण है जिसमें यमी अपने भाई यमको बार-बार पति बनने और उसे पत्नी बनानेका प्रस्ताव करती है, बार-बार यम क्षुब्ध होकर इस सम्बन्धको पाप बताता है, यद्यपि अनेक बार ऐसी स्थिति झलक जाती है जिससे इस प्रकारके सम्बन्धकी ओर संकेत हो जाता है। सूक्तका एक बार नीचे विश्लेपण ही वास्तविकता प्रकट करनेमें सहायक हो सकता है।

सूक्तके ऋषि और देवता दोनों ही यम और यमी हैं। यम और यमी विवस्वान् (सूर्य) और सरण्यूके जुड़वें पुत्र-पुत्री हैं। आरम्भके छन्दमें ही भगिनी विकम्पित वाणीमें भाईको उससे "विवस्वान्के लिए" पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रार्थना करती है। पर भाई मधुर शब्दोंमें उसके प्रस्तावको अस्वीकृत कर देता है—

"तेरा सखा उस सख्यको नहीं मानता जिसमें निकटकी जाईको दूर का माना जाता है (सगोत्रका निषेध)।

(न भूलो कि) महान् असुरके पुत्र, वीर, आकाशको धारण करनेवाले, अपने चतुर्दिक् दूर तक देखते हैं।" (२)

इससे प्रमाणित है कि इस छन्दके लिखे जाने तक असगोत्र विवाहकी परम्परा आर्योंमें प्रतिष्ठित हो चुकी थी और सगोत्र सम्बन्ध अनुचित माना जाने लगा था। दूसरी पंक्ति भाई-बहिनके सम्बन्धको नाजायज़ करार देती है क्योंकि महान् असुर (वरुण) जो पापपर दृष्टि रखता है, अपने चरों द्वारा इस सम्बन्धके

पापियोंको जैसे सावधान करता है। परन्तु क्या यही पंक्ति प्राचीन कालमें इस प्रथाके प्रचलित होनेका प्रमाण नहीं बन जाती ? यमी इसके अतिरिक्त एक और युक्ति प्रस्तुत करती है। वह कहती है कि "ऋत (कानूनी व्यवस्था) का सिद्धान्त मर्त्योंके लिए है, अमरोंके लिए नहीं, और यह अमर है जो अपने भ्राताको सम्बन्धके लिए पुकारती है" (३)। परन्तु भाई इतिहासका उलाहना देकर उसे परास्त करना चाहता है—"क्या आज हम वह करें", यम पूछता है, "जो हमने कभी नहीं किया ? हम, जो सदा ऋत बोलते-करते रहे हैं, क्या अब अनृतकी उपासना करेंगे ?" (४)। इस छन्दमें स्पष्टतः 'कालविरुद्ध-दूषण' (अनाक्रानिज़्म) आ गया है। छन्दकार सयत्न प्रमाणित करनेकी कोशिश कर रहा है कि प्रथा पुराकालमें जानी हुई न थी। इसकी अन्यत्र उपलब्ध स्वतन्त्र सामग्रीसे तुलना इसकी असत्यता घोषित कर देती है, पर उसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे। यहाँ तो स्वयं यमी ऐतिहासिक परम्पराका सहारा लेती हुई उसके इतिहास-विरोधी आचरणको धिक्कार उठती है। अपने वक्तव्यमें वह उस साधारण जन-विश्वासकी ओर संकेत करती है जिसमें जुड़वें भाई-बहनोंका सम्बन्ध नितान्त स्वाभाविक माना जाता था। वह उसके विपरीत यमको धमकाती हुई सावधान भी करती है कि यदि उसने प्राचीन परम्परानुमोदित प्रथाका उल्लंघन किया और उसका प्रस्ताव न माना तो उसे परम्पराका अनादर करनेके कारण देवताओंके क्रोधका भागी बनना पड़ेगा। वह कहती है—

"विश्वकार त्वष्टाने स्वयं हम दोनोंको दम्पतिके रूपमें एकत्र किया था (**गर्भे नु नौ जनिता दम्पती**)। (सावधान !) उसके व्रतों (नियमों) का कोई उल्लंघन नहीं करता (नहीं तोड़ता)। और हम दोनों उसके हैं, आकाश और पृथ्वी दोनों इसे स्वीकार करते हैं।" (५)

अब जब यमको इतिहासका सहारा नहीं मिलता, और चूँकि यमी प्रचलित पद्धति और जानी हुई परम्पराकी याद दिला यमको निरुत्तर कर देती है, तब वह तर्कके बदले क्रोध प्रगट करता है—

"किसका जाना है वह प्रथम दिन जिसकी बात तू कह रही है ? उसे देखा किसने ? कौन यहाँ उसकी घोषणा करेगा ? मित्रावरुणोंकी व्यवस्था महान् है। नीच पुरुषको प्रलोभित करनेके लिए भला तू क्या नहीं कह सकती ?" (६)

उत्तरमें यमी उसके प्रति अपने स्निग्ध प्रणयकी घोषणा करती है। शब्दोंमें गज़बकी गरिमा है—

"मैं, यमी, यमकी अनुरक्त हूँ। मैं उसके साथ समान शय्यापर रमण करूँ।

मैं उसे जायाकी भाँति अपने तनको पतिके प्रति समर्पित करूँ। हम दोनों रथके पहियेकी तरह परस्पर मिलनेको दौड़ पड़ें !" (७)

पर वह सावधि समाजके नये आचार-नियमोंसे अवगत और भयान्वित है। वह वरुणके चरोंकी चौकसीका हवाला देकर यमीको सावधान करता है—

"वे थकते (बैठते) नहीं, कभी निमिष (पलक) नहीं मारते, देवोंके वे चर जो सदा हमारे चारों ओर विचरते रहते हैं।

मुझे नहीं, नीच, तू दूसरेको रथ-चक्रोंकी भाँति दौड़कर भेंट !" (८)

तब वह समकालीन आचार-नियममें इस कार्यको अनुचित और अभ्रातोचित जानती हुई और इसी कारण भाईको डरा हुआ समझकर उसका सम्भाव्य पाप अपने सिरपर लेनेकी घोषणा करती है—

"सूर्यके नेत्र, दिन और रात्रिके रूपमें, उसके मार्गमें प्रकाश बिखेरते रहें !

आकाशमें धरापर (सर्वत्र) मिथुन (यम-यमी) की क्रीड़ा हो, यमीपर यमका अभ्रातोचित (**बिभृयादजामि**) कर्म हो !" (९)।

यमके उत्तरमें परोक्ष रूपमें उस स्थितिकी कल्पना की गई है जिसमें भाई-बहनके बीच यह सम्बन्ध सामाजिक नियमके रूपमें ध्वनित है। वह चाहे यमकी जानकारीमें रही हो चाहे उसकी स्मृति-परम्परामें बनी रही हो। उत्तर इस प्रकार है—

"निश्चय ऐसे युग (**उत्तरा युगानि**) आयँगे जब भ्राता और भगिनी अभ्रातोचित कर्ममें प्रवृत्त होंगे !

मुझे नहीं, सुभगे, अन्य पति खोज, और उसके लिए अपनी भुजाओं की तकिया बना।" (१०)

वस्तुतः ऋचामें उल्लिखित 'उत्तर युग' पूर्व ही बीत चुके हैं या उनकी स्मृति अथवा शेषांश समसामयिक समाजमें बचा हुआ है। भविष्यका शाप यथार्थमें उस प्रथाकी प्रतिक्रिया है जो सम्भवतः अंशतः अभी बची हुई है और जिसे अनुचित करार दिया गया है। यमीके उत्तरमें उस प्रथाका संकेत है जिसमें भाई भगिनीका स्वाभाविक पति माना जाता था यद्यपि उसका ऊपरी अर्थ भगिनीके लिए पति और भाईके लिए पत्नी खोजना है—

"वह कैसा भाई जब भगिनी अनाथा (पतिरहित) हो ? कैसी वह भगिनी जब निऋति (मृत्यु) उपस्थित हो ?

कामाभिभूत ये अनेक शब्द मैं उद्गीरित करती हूँ। पास आकर मुझे गाढ़े आलिंगनमें बाँध लें !" (११)

और यम इस पुरानीके विरुद्ध सावधि प्रथाका उल्लेख करता हुआ कहता है—

"मैं तेरे तनको अपनी भुजाओंमें नहीं बाँधूँगा, भगिनीके पास जाना पाप कहा गया है !

मेरे लिए नहीं, किसी अन्यके लिए अपने आमोद प्रस्तुत कर। तेरा भाई तुझसे, सुभगे, इसकी कामना नहीं करता।" (१२)

तब प्राचीन प्रथा द्वारा अपने अधिकार जताकर भी असफल यमी क्षुब्ध हो भाईको हृदयहीन और क्लीव कहकर धिक्कारती है—

"खेद ! यम, तू निश्चय क्लीव है, तेरे न मन हैं न हृदय !

खेद कि वृक्षको लताकी भाँति, कटिको मेखलाकी भाँति, कोई और तुझे घेरेगी !" (१३)

भाई अपनी दृढ़तामें अडिग होकर भी जैसे जुड़वीं बहनके उस पुरागत अधिकारको समझता है परन्तु समाजके नये आचारोंका अनुबन्ध मानता हुआ (वह स्वयं यम है, नियमोंका प्रतिष्ठाता, यह नया नियम वह स्वयं बना रहा है ।) भगिनीको प्रेमानुशासन द्वारा सलाह देता है—

"अन्यका आलिंगन कर, यमी, अन्यको अपनेको घेरने दे, जैसे लता तरुको घेरती है ।

तू उसके मनको जीत, वह तेरी इच्छा जीते, फिर उसका तेरे साथ श्रेयस्कर सख्य होगा ।" (१४)

सूक्तसे प्रकट है कि कमसे कम कभी, सम्भवतः निकट पूर्वमें ही, भाई-बहनके बीच इन्सेस्ट प्रथाके रूपमें प्रचलित रही थी, जिसे समाजने अव तर्क कर दिया था । इस सम्बन्धके दो उल्लेख और हैं । एक (६,५५, ४) मैं तो भाईको बहिनका जार (**स्वसुर्यो जार,—४ स्वसुर्जारः—५**) और दूसरे मैं उसका पति अथवा जार होना (**यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते**—१०, १६२, ५) कहा गया है ।

परन्तु भ्राता-भगिनी विवाहका सबसे उत्कट और अकाट्य प्रमाण पौराणिक परम्परामें मिलते हैं जो ऋग्वैदिक समाजके पूर्व और पर सम्बन्धी दोनों स्थितियोंको समान रूपसे प्रकट करते हैं । अनेकांशमें पौराणिक परम्पराएँ ऋग्वेदसे भी पूर्वगामी समाजका संकेत करती हैं, यह याद रखने-की बात है । दृष्टान्ततः त्रसदस्यु-पुरुकुत्स और ययातिके नाम ऋग्वेदमें (८, १९, ३६; १०, ६३, १) आते हैं और वह भी प्राचीन वीरोंके रूपमें । परन्तु पुराणोंकी परम्परा और वंश-तालिका उनसे कई पीढ़ी पहले आरम्भ होती है ।

पुराणोंकी सूचीसे प्रायः दो दर्जन भाई-बहिन-विवाह गिनाये जा सकते हैं जिनका कार्य-काल ऋग्वेद-पूर्व, समकालीन और पश्चात् रहा है । एकाधको छोड़ शेष सारे दृष्टान्तोंमें भाई अपनी भगिनी (पितृकन्या) से

विवाह करता है (मैं विस्तार-भयसे हवालोंका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। वे मेरी पुस्तक 'विमेन इन ऋग्वेद' में विस्तारसे दिये हुए हैं)। और ये अपवाद भी ऐसे हैं जिसमें विमातासे उत्पन्न या चचेरे भाई-बहिन परस्पर विवाह करते हैं।

अब देखें कि वेणके पिताने अपनी पितृकन्या सुनीताको ब्याहा, विप्रचित्तिने अपने पिता कश्यपकी कन्या सिंहिकाको। यम-यमीकी पीढ़ी अंग-सुनीताके बाद दसवीं है। विवस्वान्के पुत्र मनुने विवस्वान्की पुत्री श्रद्धासे विवाह किया, नहुष ऐलने पितृकन्या (ऋग्वैदिक ययातिकी माता) विरजासे, अमावसु ऐलने पितृकन्या अच्छोदासे, शुक्र-उशनस् (जो पश्चात् ययातिका ससुर हुआ) ने अपनी पितृकन्या गो से। देवयानी (शुक्र-उशनस्की पुत्री) की बड़ी बहन देवीने वरुणको बरा जो शुक्र-उशनस्का अगला वंशधर होनेके कारण उसका भ्राता, अर्ध-भ्राता या चचेरा भाई रहा होगा। अंगिरसोंके भरतने अपनी तीनों बहनोंसे ब्याह किया। संहताश्वकी दुहिता हैमवती दृषद्वतीने पिताके दो पुत्रों कृशाश्व और अक्षयाश्वको बरा। ऋग्वैदिक पुरुकुत्सके पुत्र मान्धातृने पितृकन्या नर्मदासे विवाह किया, सगर के पौत्र अंशुमतने पितृकन्या यशोदासे, दशरथने सगोत्रा कोशल्यासे। दशरथ जातक, जो सम्भवतः रामायणसे प्राचीन है, राम और सीता दोनोंको भाई-बहन बताता है। कुछ अजब नहीं जो 'जनकतनया' पितृकन्याका पर्याय रहा हो। ये ऊपर गिनाये व्यक्ति या तो ऋग्वेदसे प्राचीन हैं या उसके समकालीन। उसी काल, लगता है, समाजने सगोत्र, विशेषतः सगी बहनसे विवाहके विरुद्ध विद्रोह किया जिससे कमसे कम कुछ कालके लिए यह विवाह सम्बन्ध रुक गया। रामके बाद प्रायः २७ पीढ़ियों तक पौराणिक परम्परामें ऐसे विवाह नहीं मिलते। परन्तु प्रथा कुछ साधारण न थी और पश्चात् फिर चल पड़ी। महाभारतकालमें ही प्रायः उसका नये सिरेसे फिर प्रारम्भ हो गया। कृष्णद्वैपायन व्यासके पुत्र शुकने पितृकन्या पीवरीको ब्याहा, उसी प्रकार राजा द्रुपदने अपनी पितृकन्याको।

सत्राजितने अपनी दस बहनोंसे एक साथ व्याह किया। शृंजयीके पुत्रने शृंजयकी दो कन्याओंको व्याहा। उसके पितामहने किसी ऐक्ष्वाकीसे व्याह किया था, उनसे उत्पन्न पुत्र ने भी (दूसरी) ऐक्ष्वाकी (कौशल्या) से ही विवाह किया।

बौद्ध परम्पराके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि यह भ्राता-भगिनी-विवाहकी प्रथा पौराणिक परम्पराके पीछे भी क़ायम रही थी। जातकमें राम-सीताको भाई-बहन माना जाना ऊपर लिखा जा चुका है। एक दूसरे जातकमें कृष्णके जुड़वें भाईका अन्य पतिसे उत्पन्न अपनी माताकी पुत्रीसे विवाह करना लिखा है। काशीके उदयभद्रने अपनी अर्द्ध-भगिनी उदयभद्राको व्याहा। शाक्योंमें (जिनमें बुद्ध हुए थे) बहिनसे विवाह प्रायः साधारण बात थी। कोसलके राजा पसेनदि (प्रसेनजित्) के पिता महाकोसलकी पुत्री कोसलदेवीका विवाह राजगृहके राजा बिंबिसारसे हुआ था। बिंबिसारके पुत्र अजातशत्रुने पसेनदिकी कन्या बजिराको व्याहा जो इस प्रकार उसकी चचेरी बहन हुई। चचेरे भाई-बहनोंके बीच विवाह बौद्ध परम्परामें सर्वथा आम था।

इन उदाहरणोंसे प्रमाणित है कि भ्राता-भगिनी-विवाह ऋग्वैदिक-कालके पूर्वसे लेकर बौद्धकाल तक भारतीय समाजमें सर्वत्र रहा है। सगोत्र विवाह बहुत पीछे स्मार्तयुगमें वर्जित हुआ यद्यपि उस विवाहकी परम्परा दीर्घकालतक पीछे भी चलती रही। मातुल-कन्या आदि विवाहोंका फिर उसने रूप धारण किया।

अत्यन्त आदिकालमें जब पिता परिवारका सर्वथा स्वामी था और नारियोंकी संख्या कम थी तब पिता और कन्याके बीच यौन सम्बन्ध-का होना वर्जित न था। उसके एकाध उदाहरण ऋग्वेदमें भी स्वीकारात्मक रूपमें मिलते हैं। कमसे कम उस प्रकारके उदाहरण लोगोंको सह्य थे और कवि अपनी उपमाओंमें उन्हें व्यक्त करते थे। प्रजापति और उसकी कन्याका सम्बन्ध (ऋ० १०, ६१, ५–७) उसी प्रकारका है। वैसे ही

माता-पुत्रका सम्बन्ध भी ६, ५५, ५ में ध्वनित है जहाँ पूषन अपनी माताका प्रेमार्थी (विवाहार्थी, दिधिषु) कहा गया है। पिता और कन्याका सम्बन्ध पौराणिक परम्परामें भी यदा-कदा उपलब्ध है। प्रवृत्ति, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पितृसत्ताक स्थितिकी अवशेष है, जैसे माता-पुत्रका सम्बन्ध मातृसत्ताककी। माता-पुत्र सम्बन्धका उदाहरण अस्पष्ट रूपसे स्वयं ऋग्वेदसे भी दिया जा सकता है। उषाको सूर्यकी माताके रूपमें जनयित्री कहा गया है (७, ७८, ३), जो देदीप्यमान पुत्र जनती है (१, ११३, १. २)। उसे अपने जार (सूर्य—१, ९२, ११) के तेजसे चमत्कृत होना भी कहा गया है। वह सूर्यकी पत्नी (७, ७५, ५) का अनुसरण करता है (१, ११५, २; १, १२३, १०)। इस प्रकार उषा सूर्यकी पुत्री (दुहितर्दिवः—१, ३०, २२ आदि) कही गई है परन्तु एक स्थलपर कवि उसे उसकी 'प्रिया' बनानेसे भी नहीं चुका (१, ४६, १)। इस प्रकारके माता-पुत्र सम्बन्धका उदाहरण हमें पुराणोंमें नहीं मिलता।

ऋग्वेदमें विधवा, सती और नियोग : ५ :

कहते हैं कि ऋग्वेदका साहित्य, जैसा उसका समाज भी, पूर्ण विकसित स्थितिमें हमारे सामने खुलता है। इसमें सन्देह नहीं कि आजके हमारे समाजकी अनेक विभिन्न परिस्थितियाँ ऋग्वैदिक समाजमें जीवित थीं, अनेक तभी जन्मीं भी, परन्तु साथ ही कुछ ऐसी भी थीं जिनका अस्तित्व आज नहीं है और यदि है भी तो अंशतः।

ऋग्वेदमें विधवाओंके अस्तित्वके कुछ उदाहरण मिलते हैं, उनसे भी अधिक विधवा-विवाहके, कुछ सतीके भी और अनेक नियोगके, जिसका अन्त हिन्दू समाजमें आजसे पर्याप्त पूर्व हो गया था। हम यहाँ इन तीनोंकी स्थितिपर संक्षेप विचार करेंगे।

निःसन्देह विधवा सम्बन्धी उल्लेख ऋग्वेदमें बहुत नहीं हैं और जो हैं वे भी अस्पष्ट हैं। जो भी हो, इतना सन्देह सच है कि समाजमें उसका स्थान था। संभवतः ऐसी विधवाएँ भी थीं जो आमरण विधवाएँ बनी रहती थीं यद्यपि स्वाभाविक ही लड़ाके पुरुषोंवाले उस युगमें विधवाओंकी संख्या अधिक नहीं रह सकती थी। एक स्थलपर स्पष्ट उल्लेख है—

"अश्विन्, तुम कृश और शयुकी रक्षा करो, तुम दोनों विधवा और अर्थककी सहायता करो" (ऋ० १०, ४०, ८)। यह संकेत उन विधवाओंके प्रति है जो फिर विवाह नहीं करती थीं। "**कस्ते मातरं विधवा मचकृच्छयुं**" (४, १८, १२) में भी उसी स्थितिका उल्लेख है। ऋषि जैसे इन्द्रसे पूछता है—मेरी माँको किसने विधवा बना दिया? दसवें मण्डलके मृत्यु-सूक्त (१८, ७) में समाजमें अविवाहिता विधवाओंके प्रति परोक्ष संकेत उपलब्ध है। स्थिति विशेष और अनुष्ठान सम्पन्न करनेके

लिए इसमें अविधवा नारियों (**नारीरविधवाः**) का उल्लेख हुआ है। इसमें अविधवा सपत्नियोंके जलूसका वर्णन है। लगता है कि आजकी ही भाँति, चाहे इस मात्रामें न सही, तब भी विधवाएँ अकल्याणी मानी जातीं और अनुष्ठानोंसे पृथक् रखी जाती थीं। प्रसंग विवाहका है जिससे विधवाओंके दूर रखनेका दूरस्थ संकेत मिलता है। इस जलूसमें अविधवा नारियाँ ही भाग ले सकती थीं। प्रकट है कि समाजमें तब अविवाहिता विधवाएँ बर्तमान थीं।

ऋग्वेदमें विधवा सम्बन्धी सामग्री, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, थोड़ी है। आर्य शत्रुओंके बीच रहते थे, उनकी अपनी जनसंख्या अपेक्षाकृत कम थी और अपनी रक्षाके लिए, विजयके लिए भी, उन्हें पुरुषोंकी आवश्यकता थी। इससे यह सम्भव न था कि शिशुजननकी आयु वाली नारियाँ उपेक्षित छोड़ दी जायँ और आमरण विधवा बनी रहें। जो अपने मृत पतिके प्रति आमरण सख्य निभाना चाहती थीं, और उनकी संख्या नितान्त कम थी, उन्हें छोड़ शेष सभी विधवाएँ अपना विवाह फिर कर लेती थीं। इसी कारण समाजमें उनकी संख्या अत्यन्त कम थी। लगता है कि विधवाएँ विधवा होते ही प्रायः सर्वदा शीघ्र अपने देवर अथवा पतिके निकटतम सम्बन्धीसे ब्याह दी जाती थीं। ऊपर उद्धृत मृत्यु-सूक्त से यह स्पष्ट है। पतिकी मृत्युके बाद जब उसका शव जलाने या दफ़नानेके लिए श्मशान अथवा क़ब्रगाहमें ले जाया जाता था तब उसकी विधवा भी शवके साथ-साथ जाती थी। साथ ही उसके पतिके परिवारके पुरुष और पतिवती (अविधवा) नारियाँ भी जाती थीं। संस्कारार्थ उसे पतिके शवकी बगलमें लेटना पड़ता था। यह प्राचीनकालसे चले आते मृत्यु-संस्कारका एक अंग था। उसका विवेचन हम फिर करेंगे। कालके मारे (१०, १८, २–३) उस वीरके पास जब तक वह पड़ी रहती थी तब तक उसके सम्बन्धी अन्त्येष्टिकर्म (३) करते थे। इसी बीच पतिवती नारियाँ (**नारीरविधवाः**), अंजनयुक्त निरश्रु नेत्रोंवाली सपत्नियाँ, वस्त्राभूषण और

सुगन्धसे युक्त प्रसन्न वदन धधकती चिताके समीप जा उस नयी विधवाको नये जीवनके लिए सजाने लगती थीं (७)। उसी समय कृत्योंके बीच ही उसका विवाह हो जाया करता था। चिता प्रज्वलित होनेसे पहले पुरोहित शवके पास लेटी विधवाका संबोधन कर कहता था—"उठ नारी, जीवलोकको लौट। वह, जिसके समक्ष तू पड़ी है, अब मर चुका है। तेरा पत्नीत्व अब तेरे इस पतिके साथ है जिसने तेरा कर पकड़ा है और प्रणयी-सा तुझे वरा है।" (८) मूल अत्यन्त शालीन है—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि संबभूथ॥

उसके पतिका भाई (देवर), जो उसे ब्याहता था, उस अवसरपर मृतकके हाथसे धनुष लेता हुआ कहता था—"मैं उसके मृत करसे धनुष लेकर धारण करता हूँ जिससे वह हमारी शक्ति और गौरव बने। तू वहाँ है वहाँ, और यहाँ हम वीर सारे विश्व और शत्रुओंकी विजय करें"। (९) इस प्रकार मृत आर्य वीरका छोटा भाई न केवल धनुके प्रतीकसे 'जन' का नेतृत्व ग्रहण करता था वरन् मृतककी विधवासे विवाह भी कर लेता था। उदाहरण प्रमाणतः अभिजात राजन्यका है। यह महत्त्वका प्रसंग है कि धनुष लेते हुए वीर सावधि युद्ध और शत्रुओंका उल्लेख करता है। विधवा-का तत्काल मृतक सामीप्यसे जीवलोकको लौट आना विशेष अर्थ रखता है। युद्धकी उस आपद्ग्रस्त दुनियामें पुरुषोंकी संख्या द्वारा ही रक्षा संभव थी। संख्या वीरजननी नारियोंसे ही संभव थी। शिशुजनन-आयुकी विधवाएँ समाजको निःसन्देह बड़ी मँहगी पड़तीं। इससे आर्य विधवा होते ही उनसे विवाहकर प्रजनन-कार्यमें लग जाता था। कुछ आश्चर्य नहीं कि वधूको आशीर्वाद देता हुआ पुरोहित उससे "दश पुत्रों" की आशा करे, पतिको कुटुम्बका "ग्यारहवाँ" बनाये।

इस प्रकार देवर विधवासे तत्काल, संभवतः मृतककी अन्त्येष्टिसे भी पहले, विवाह कर लेता था। पता नहीं इस विधवा-विवाहके अवसर-

पर विवाहकी पूरी रीतियाँ सम्पन्न होती थीं या नहीं पर कमसे कम इतना तो सच है कि विधवा शीघ्र चितासे उठ देवरका हाथ पकड़ लेती, और उसकी औरस पत्नी तत्काल बन जाती थी। लगता है, जैसे यह विवाह स्वयं मृतक-संस्कारका ही अंग रहा हो। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रथा साधारणतः क्रूर जान पड़ेगी कि विधवा मृतपतिके दग्ध होते ही दाम्पत्य सुख-भोगमें लीन हो जाय। विवाहकी यह कल्पना कुछ अजब नहीं कि जब-तब नारीको जघन्य अपराध करनेपर भी उतारू कर देती है। कुछ असम्भव न था कि पतिताएँ उससे विवाह करनेके लिए राहके काँटे पतिको सहसा हटा दें जिसके साथ पतिके जीवनकालमें प्रच्छन्न रूपसे वे रमण करती रही हों। उस स्वच्छन्द समाजमें, जब वधूका विशेषण विवाहके समय भी 'देवृकामा' (देवरकी कामना करनेवाली) था, ऐसा होजाना कुछ असम्भव न था। वस्तुतः इस प्रकारकी दुर्बलताएँ सब कालके समाजमें होती आई हैं। बाक़ी रही वह भावुकता कि पतिकी मृत्युके शीघ्र बाद विधवासे विवाह निष्ठुरता है तो उसका समाधान केवल यह कहकर किया जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य जितना ही आपदाओंसे घिरा था उतना ही उनके तिरस्कारमें वह आमोदशील भी था। साथ ही उत्तर-कालीन वंशजोंसे वह कहीं कम धर्मवादी था, कहीं अधिक लोकवादी। मृत्युपर वह प्रसन्न हँसता था, वह उसके जीवनमें सामान्य घटना थी। मृत्युका उपहास किये बग़ैर आर्यका जीना उस क्रूर संसारमें कठिन था। इसीसे शव-संस्कारके समय ऋषि कहता है—"हम नृत्य और हास्यके लिए यहाँ आये हैं।" (**प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः—१०, १८, ३**)। नित्य शत्रुओंसे घिरे वे उन्हें मारते उनसे मरते रहते थे, कुछ अजब नहीं कि अपने मृतकोंकी संख्या कम करने और जीवित लड़ाके वीरोंकी संख्या बढ़ानेके लिए सद्योजाता विधवाको पत्नी बना वे प्रजनन कार्यमें जागरूक हो जाते हों। विपद् थी पर उनकी आवश्यकता उससे बड़ी थी।

विधवा विवाहका एक और प्रमाण दसवें मण्डलके ४० वें सूक्त (२) में मिलता है। ऋचा इस प्रकार है—

"अश्विन्, तुम संन्ध्या समय कहाँ रहते हो ? कहाँ प्रातःकाल रहते हो ? तुम्हारा निवास रात्रिमें कहाँ है ? तुम्हें घरकी ओर कौन लाता है ? कौन लाता है तुम्हें इस प्रकार जिस प्रकार विधवा देवरकी शय्याका आरोहण करती है, जिस प्रकार वधू वरकी ओर आकृष्ट होती है ?"

इस छन्दका संकेत उस सामान्य रीतिकी ओर है जिसमें देवर साधारणतः भाईके मरनेपर उसकी विधवासे विवाह कर लेता था। प्रमाण असंदिग्ध है। उपमा घरेलू है, नित्यकी घटनाकी परिचायक। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पत्नी अपनी अविधवावस्थामें भी 'देवृकामा' कहलाती थी जिससे पतिविहीन होनेपर उसकी ओर उसके भावोंका प्रवाह स्वाभाविक था।

विवाहार्थ ले जायी जातीं (**गर्तारुः**—१, १२४, ७,) अन्य विधवाओंका उल्लेख मिलता है। ऐसी विवाहिताओंको 'पुनर्भू' अर्थात् पुनर्जात कहा गया है। पतिके कहीं चले जानेपर भी पत्नी अपनेको विधवा मानकर फिरसे अपना विवाह कर सकती थी (ऋ० ६, ४९, ८)।

इसका प्रमाण स्पष्ट उपलब्ध नहीं कि विधवा-विवाहमें भी आवश्यक विधियाँ सम्पन्न होती थीं या देवरकी स्वीकृति मात्र विधवाको पत्नी बनानेके लिए पर्याप्त थी। प्रस्तुत प्रमाणमें तो वह सीधी चितासे उठा ली गई है। और उसका देवर उसे पत्नी रूपमें ग्रहण कर लेता है। उसी सिलसिलेमें उससे पुत्र उत्पन्न करनेकी बात भी कही गई है। जान पड़ता है कि विधवा-विवाहमें जनके लोगोंके सामने देवरका उसे स्वीकार मात्र कर लेना पर्याप्त था और उपस्थित लोग उसके साक्षी माने जाते थे।

साधारणतः विधवा-विवाह सती प्रथाका प्रश्न हल कर देता है। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि ऋग्वेदके-से बृहद् ग्रन्थमें विधवाके चितारोहणका एक भी प्रमाण नहीं है। विधवाओंके तत्काल पत्नी बनकर समाजमें

दोबारा समा जानेके कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही है। ऋग्वेद १०, १८, ९ से फिर भी, कुछ लोगोंकी रायमें, ऐसी ध्वनि निकलती है कि एक समय कभी रहा होगा जब मृतकके साथ ही उसका धनुष, जो उसके हाथ-से ले लिया जाता है, और उसकी विधवा जो उसकी बगलसे चितासे उठा ली जाती है, जला दी जाती थीं। अथर्ववेदमें तो निःसन्देह विधवाके पतिके शवके साथ जलनेकी बात स्पष्टतः लिखी है। नृशास्त्रसे प्रमाणित है कि विधवा-दहन प्राचीन योद्धाओंके अन्त्येष्टि कर्मका एक आवश्यक अंग था। हाँ, उस स्थितिमें सती प्रथा ऋग्वैदिक समाजमें समसामयिक न मानी जाकर हिन्द-यूरोपीय कालकी सामाजिक रीति माननी होगी। अथर्ववेदके जिस मन्त्रका ऊपर हवाला दिया गया है वह इस प्रकार है (१८, ३, १)—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्यं प्रेतम्।
धर्मं पुराणं अनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

इससे एक बात तो बड़ी स्पष्टतया प्रमाणित है। वह यह कि सती प्रथा इसमें 'धर्मं पुराणम्' कही गई है। इससे सिद्ध है कि एक ज़माना था जब विधवा मृत पतिके शवके साथ चितापर जल मरती थी। अथर्ववेद उसी प्राचीन कालके 'धर्मं पुराणं' का संकेत करता है, परन्तु जान पड़ता है ऋग्वेदके समाजने कालान्तरमें (अथर्ववेदका वह संकेत ऋग्वैदिक समाजसे भी पूर्वकालकी ओर इशारा करता है) उस प्राचीन धर्मके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जो सुपत्नियाँ सजकर चितारोहणके लिए विधवाका अन्त्य मण्डन करने आया करती थीं वही अब नवविवाहके लिए उसे सजाने लगीं जिससे वह परलोकसे लौटकर नये सिरेसे जीवलोकमें प्रवेशकर 'पुनर्भू' कहलाई।

'आरोहन्तु योनिमग्रे'के सम्बन्धमें केगीका कहना है कि ज़रा-सी बे-ईमानीसे इसीका पाठान्तर (**'आरोहन्तु योनिमग्ने'**) सती प्रथाको वैदिक प्रतिष्ठा दे सकता था। परन्तु जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, पुत्र उत्पन्न

करनेकी आयुवाली विधवाओंकी समाजमें आवश्यकता थी और यह सम्भव न था कि उनका अन्त कर दिया जाय। फिर उनका जलाना जीवनशक्ति की बड़ी हानि भी थी क्योंकि राजाओं और पुरोहितों अथवा श्रीमानोंकी कुछ एक ही पत्नी नहीं, आर्य-अनार्य अनेकों होती थीं, और पतिकी मृत्युपर विधवाओंके जलानेका अर्थ था एक समूचे हरममें आग लगा देना, जब राष्ट्रको वीर प्रदान करनेवाली माताओंकी इतनी आवश्यकता थी। सती-दाह वस्तुतः एकपत्नी-स्थिति (ऐसा नहीं कि प्राचीनकालमें पत्नियोंके दलके दल अन्य समाजोंमें जलाये न गये हों), पतिकी प्रेमगत ईर्ष्या और नारीके अधिकारोंकी पतितावस्थाका परिणाम था। भारतीय इतिहासके पिछले स्तरोंमें समाजमें इन तीनों स्त्रियोंका बोलबाला हुआ। परन्तु ऋग्वेदकालीन समाजमें स्थिति दूसरी थी, बहुपत्नीत्व साधारणतः उसमें प्रचलित था, पतिकी ईर्ष्याके स्थानपर उस पौरोहित्य युगमें स्वच्छन्द प्रणयका बाहुल्य था। (जार-जारिणियोंके उल्लेख उस वेदमें भरे पड़े हैं), नियोगकी प्रथा सदाचरणको खोखला और पतिकी ईर्ष्याका अन्त करनेको पर्याप्त थी (महाभारतकाल जो ऋग्वेदका ही उत्तर युग है नियोग और दुराचरणसे भरा था), और नारीके अधिकार अपेक्षाकृत सुरक्षित थे। अविवाहित विधवाएँ समाजमें वही रह जाती थीं जिनकी पुत्र प्रसव करनेकी आयु बीत चुकी थी।

विवाहका लक्ष्य पुत्रोत्पत्ति द्वारा वंश क़ायम रखना और राष्ट्रको शक्तिशाली बनाना होनेके कारण नारी मातृ रूपमें ही विशेष महत्त्व रखती थी। उसके नारीत्वका चरम गौरव मातृत्वका था। पुत्रोत्पत्ति इतना आवश्यक, इतना महत्त्वपूर्ण, माना जाता था कि पतिकी क्लीवता, उसका चिरकालके लिए दूर चला जाना, लोप, अभाव या मृत्यु उस प्रजनन-कार्यमें किसी प्रकारका बाधक नहीं माना जाता था। जिस विधिसे इन विषम परिस्थितियोंमें भी वह पुत्रोत्पत्तिका कार्य जारी रखा जाता था उसे 'नियोग' कहते थे। इसका अर्थ था पुत्रोत्पत्तिके हेतु परपत्नी गमन अथवा

पत्नीका पतिसे भिन्न व्यक्ति द्वारा सन्तानोत्पादन। नियोग शब्दका प्रयोग उत्तरकालीन साहित्यमें हुआ है और वह ऋग्वेदमें सम्भवतः नहीं मिलता, परन्तु उस समाजमें उस प्रथाका प्रचलन प्रमाणतः पर्याप्त रूपसे जारी था। पुरुकुत्सानीने पतिके अन्यत्र बन्दी रहते समय पुत्र पाया था (ऋ० ४, ४२, ८-९)। उस संहितामें क्लीव पतियोंकी पत्नियोंके पतिभिन्न व्यक्तियों द्वारा सन्तान उत्पन्न करनेका उल्लेख अनेक बार हुआ है (वही, १, ११६, १३, ११७, २४, ६, ६२, ७; १०, ३९, ७, ६५, १२)। पुरंधि वध्रिमतीने पतिकी क्लीवावस्थामें दूसरे द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया। अश्विनीकुमारोंके प्रति एक ही स्तुति इस प्रकार है—"तुम रथपर चढ़कर विमदके समीप गये और उसे पुरुमित्रकी कन्या प्रदान की। तुमने क्लीव की पत्नीके समीप जा उसे पुत्र प्रदान कर सुखी किया (१०, ३९, ७)। इसी प्रकार उन्होंने एक अन्य क्लीवकी पत्नीको हिरण्यहस्त नामका पुत्र दिया (१, ११७, २४)।

यद्यपि पतिका कोई बन्धु उसकी पत्नीके साथ नियोग कर सकता था, साधारणतः देवर ही इस कार्यके लिए उपयुक्त समझा जाता था। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, विधवाका विवाह भी अधिकतर उसीसे होता था। पत्नी अथवा वधू अपने विवाहके अवसरपर भी देवृकामा कही गई है। देवर वस्तुतः दूसरा पति है जिससे, उत्तर कालमें स्खलनोंके कारण उसका भाभीसे सम्बन्ध पुत्रवत् कर देनेपर भी, आज तक दोनोंमें उत्तर भारतमें एक संदिग्ध सम्बन्ध बना रहा। दोनोंमें आज भी खुले मज़ाक चलते हैं और कुछ क़ौमोंमें तो भाभीके विधवा होनेपर देवरके साथ उसका सामान्यतः विवाह भी हो जाता है।

ऋग्वैदिक युगमें बहुपत्नी-बहुपति विवाह

आभिजात्य, सामन्ती और सामरिक व्यवस्थामें बहुपत्नीकता सामान्य धर्म है। ऋग्वैदिक युग तीनोंका सम्मिलित रूप प्रस्तुत करता है। ऋद्ध राजन्य, अभिजात श्रीमान् और उनके समीपवर्ती ऋषि-पुरोहित साधारणतः बहुपत्नीक होते थे। एक स्थलपर (ऋ० १,६२,११) उत्कंठित पतिसे उत्कण्ठिता पत्नियोंके (**पत्नीरुशती**) चिमट जानेकी उपमा दी गई है। संहिताने सपत्नियोंके स्पर्धाजनित कष्टसे लाचार पतिका सुन्दर चित्र खींचा है—'सब ओरसे सपत्नियोंकी तरह कुचलते हुए मुझे पीड़ित करते हैं' (**सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः**–वही, १,१०५,८;१०,३३,२)। दोनों ओरसे सपत्नियों द्वारा पीड़ित पतिकी यह दुर्दशा कष्टकर व्यंग प्रस्तुत करती है।

अनेक पति बहुपत्नियोंके सहवाससे उल्लसित होते थे। इन्द्र उन्हींमें था। अपनी अनेक पत्नियोंसे (**जनिभिः**) वह बड़ा सुख लाभ करता था। राजाओंका बहुपत्नीक (**राजेव हि जनिभिः**—वही ७,१८,२) होना तो मानो अनिवार्य था। अन्यत्र अनेक पत्नियोंका समान पतिको प्यार करना लिखा है (वही १,७१,१)। संहिताके १,६२,१० का वक्तव्य इस प्रकार है—"सहस्रों पवित्र कार्योंके लिए बहनें उसका वैसे मुँह जोहती हैं जैसे पत्नियाँ (**पत्नीः**) और नारियाँ (**जनयः**)।" इसी प्रकार इन्द्रके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसने "सारे पुरों पर वैसे ही अधिकार कर लिया है जैसे एक ही समान पति (**पतिरेकः समानो**) सारी पत्नियोंपर (**जनीरिव**) अधिकार कर लेता है (वही, ७,२६,३)। एक स्थलपर (१०,४३,१) पतिका पत्नियों द्वारा आलिंगन (**परिष्वजन्ते जनयो यथा**

पतिम्) किये जानेकी उपमा दी गई है। एक सुन्दर उपमा दो पत्नियों वाले पतिकी रथके दोनों बमोंके बीच दबे अश्वसे दी गई है। दोनोंकी स्थिति कठिन होती है, डंडोंके बीच दबे घोड़ेकी भी, पत्नियोंके बीच संत्रस्त पतिकी भी (१०,१०१,११)। इसी प्रकार **'पतिर्जनीनाम्'** (१०,८६,३२) पदमें भी उसी बहुपत्नीक पतिकी ओर संकेत है। ऐसा ही स्पष्ट उल्लेख ३,१,१० में भी है। सपत्नियोंका उल्लेख ३,६,४ में भी हुआ है। इसी प्रकार १,५९,४ में वैश्वानरकी अनेक पत्नियोंका ज़िक्र है। दिवाके पथ में अनेक 'मोदमाना' वधुओंका इन्द्रके लिए उड़ना स्पष्टतः लिखा है— **उपप्रक्षे वृषणो मोदमाना दिवस्पथा वध्वो यन्त्यच्छ** (५,४७,६)। सुन्दर वेणियों वाली अनेक कुमारियाँ देवताका आलिंगन करती हैं (१,१४०,८)। 'सपत्नी' (सौत) शब्दका प्रयोग संहिताके अनेक छन्दोंमें (३,१,१०,६,४;१, १०५, ८;१०, १४५,१.२.५; १५९, ५) हुआ है।

बहुपत्नीकका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण दसवें मण्डलके १४५ वें और १५९ वें सूक्तोंमें हुआ है। इनमें पहलेका नाम ही है उपनिषत्सपत्नी-बाधनम्, जो सौतको नीचा दिखानेका मन्तर है। इन्द्राणी स्वयं इस सूक्तकी ऋषि है और मंत्र द्वारा इन्द्रके ऊपर सपत्नियोंका प्रभाव नष्ट कर अपना प्रतिष्ठित करना चाहती है। उसका वक्तव्य इस प्रकार है—

"अत्यन्त शक्तिशाली इस पौधको भूमिसे खोदती हूँ। इससे सपत्नी बाँधी जाती हैं, पत्नीपर अधिकार किया जाता है। (१)

"देवताओंके भेजे, बड़े पत्तों वाले कल्याणकर विजयी पौध, तू सपत्नी-को दूर कर, मेरे पतिको सर्वथा मेरा बना। (२)

"हे सबल, मैं सबला हूँ; सबलासे सबला, और वह मेरी सपत्नी अबलासे अबला है, सर्वथा निम्नगा। (३)

"मैं उसका नाम नहीं लेती, वह इस जनमें निष्ठा करे, हम सपत्नीसे दूर सुदूर भागते हैं। (४)

"मैं विजयिनी हूँ, और तू भी विजयी है; विजय हम दोनोंके पक्षमें है, दोनों सपत्नीको पराास्त करेंगे। (५)

"मैंने तुझ विजयीको (संभवतः इन्द्रको) जीत लिया है, तुझे शक्ति-मंत्र द्वारा जकड़ लिया है। जैसे गाय बछड़ेकी ओर दौड़ती है, तेरा मन भी वैसे ही मेरी ओर दौड़े। नीचे दौड़ते हुए जलकी भाँति तू मेरी ओर दौड़।"(६)

दूसरे सूक्तमें, जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है, इन्द्राणी शची पौलोमी नामसे उस डाले मन्त्रका प्रभाव प्रकाशित करती है। प्रमाणतः सपत्नियोंका नाश हो चुका है और इन्द्रपर उसका एकाधिराज स्थापित है। सूक्त इस प्रकार है—

"इधर सूर्य आकाशकी मूर्धापर उठा इधर मेरा भाग्य चोटीपर चढ़ा। मैंने अपने स्वामीको जीत लिया है। (१)

"मैं केतु हूँ, मैं मूर्धा हूँ, शक्तिमती स्वामिनी मैं हूँ। मैं विजयिनी हूँ, मेरा स्वामी मेरे वशमें है। (२)

"मेरे पुत्र शत्रुघ्न हैं, मेरी कन्या अधिरानी है, मैं विजयिनी हूँ। स्वामीके ऊपर मेरा मन्त्र अधिष्ठित है।(३)

"देवो, जिस हविसे इंद्र शक्ति धारण करता है, विजयी होता है, मैंने ही प्रस्तुत की है। मुझे प्रत्येक सपत्नीसे मुक्त करो।(४)

"सपत्नियोंका नाश करने वाली मात्र पत्नी, विजयिनी, उन अन्य अबला नारियोंका तेज मैंने छीन लिया है।(५)

"मैंने अपनी इन सपत्नियोंको परास्त कर दिया है जिससे मैं इस वीर (इंद्र) और जनोंपर अधिकार रख सकूँ।"(६)

प्रकट है कि बहुपत्नीक व्यवस्थामें परिवार प्रायः मत्सर और कलह-की क्रीड़ाभूमि हो जाता होगा। सपत्नीको नष्ट करने और पतिपर उसका

प्रभाव कम करनेके लिए जन्तर-मन्तर, झाड़-फूँकका सहारा लिया जाता होगा। ऊपरके दोनों सूक्तोंमें इन्द्राणीने ज़मीनसे सपत्नी नष्ट करने वाली औषधि (पौधा) निकालकर उसके नाशके लिए मन्त्रका अनुष्ठान किया है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजा, श्रीमान् और आढय पुरोहित बहुपत्नीक होते थे। संहितामें अनार्योंके भी बहुपत्नीक होनेके उल्लेख मिलते हैं (१,६२, ११;७१,१;१०४, ३;६;१०५,८; ११२, १९; १८६, ७;७, १८, २;२६, ३,१०;४१, १;१०१, ११)। राजाओंका तो जैसे बाक़ायदा हरम होता था जिसमें उनकी विवाहिता पत्नियोंके साथ अविवाहिता वधुएँ (जिनसे वे जब चाहते विवाह कर सकते थे) और रखैले भी रहती थीं। ७, १८, २, की उपमासे प्रकट है कि इंद्र अपनी पत्नियोंमें वैसे ही रहता था जैसे राजा (**राजेव हि जानिभिः**)। उत्तरवैदिक साहित्यसे प्रकट है कि राजाके हरममें कमसे कम चार प्रकारकी रानियाँ होती थीं—महिषी (पटरानी), परिव्रक्ती (षड्यंत्रादिसे शक्ति धारण करने वाली), वावाता (राजाकी प्रिया) और पालागली (राजनीतिक कारणोंसे विवाहिता, सभासदों व रानियों आदिकी संबंधिनी जिन्हें राजा महलमें डाल लेता था)। इन चारोंके द्वारा धार्मिक अनुष्ठानोंका हवाला ब्राह्मणोंमें मिलता है। ज़ाहिर है कि इनमें परस्पर द्वेष चलता रहता होगा, जैसा इन्द्राणीके सूक्त भी प्रमाणित करते हैं, और पत्नियाँ अपने पुत्रको राज्याधिकार दिलानेके भी प्रयत्न और षड्यन्त्र करती रहती होंगी।

संहितासे प्रमाणित है कि राजा पुरुरवाके उर्वशीके अतिरिक्त अन्य पत्नियाँ (**क्षोणिभिः**) भी थीं (१०,९५,९)। पुराणोंसे भी इसकी पुष्टि होती है। कालिदासने भी अपनी 'विक्रमोर्वशी' में उस राजाको अनेक पत्नियोंका पति बताया है। इसी 'क्षोणि' शब्दका प्रयोग उस इन्द्रके लिए भी हुआ है (२,१६,३) जिसकी अभितृप्ति नारियोंसे नहीं हो पाती। ऊपर महिषीका उल्लेख हो चुका है। उसका अर्थ है प्रधान रानी, जिससे

अन्य रानियोंका होना स्वाभाविक है। महिषी शब्दका प्रयोग भी संहितामें अनेक बार (५,२,२;३७, ३ आदि) हुआ है।

राजाओंके अतिरिक्त ऋषियोंमें भी बहुविवाहकी प्रथा थी। कक्षीवान्ने रोमशा और घोषा दो राजकुमारियोंको ब्याहा था (१,१२६, ३; १, ५१, १३)। इसी प्रकार प्राचीन ऋषि च्यवन अथवा च्यवानने भी वृद्धावस्थामें अनेक पत्नियों (१, ११६, १०; ५, ७४, ५; १, ११७, १३; ११८, ६; ७. ६८, ६;७१, ५; १०, ३९, ४) को ब्याह कर दुर्दशा झेली थी। कक्षीवान्, औशिज; कवष अथवा वत्स दासी-माताओंसे जन्मे थे। ये निश्चय औरस पत्नीके अतिरिक्त रखैलोंकी भाँति उनके ऋषि-पिताओं के पास रही होंगी क्योंकि एकपत्नी ऋषिके अनार्या ब्याहनेका एक प्रमाण भी ऋग्वेदमें नहीं है। अनार्या भार्याएँ सदा आर्या पत्नीसे अतिरिक्त होती थीं जो या तो विवाहके साथ ही द्वितीया वधूके रूपमें आती थीं अथवा ऋषियोंको उदार दाताओं द्वारा दानमें मिलती थीं।

यहाँ विवाहार्थ प्रस्तुत दास-कन्याओंपर दो शब्द लिख देना समीचीन होगा। यह तो स्पष्ट है कि उनके आर्योंके साथ विधिवत् विवाहका प्रमाण ऋग्वेदमें नहीं मिलता। आर्योंके सारे कार्य मंत्रानुष्ठान द्वारा सम्पन्न होते थे, इससे विधिवत् धर्माचरणके योग्य दासी-पत्नियाँ न समझी जानेके कारण निश्चय परिवारमें उनका स्थान रखेलिनों (उपपत्नियों) का रहा होगा। लगता है, पिछले रजवाड़ोंकी भाँति विवाहके ही समय प्रमाणतः पत्नीकी आमरण सेवाके लिए पत्नीके साथ ही वे आर्यवरको प्रदान कर दी जाती थीं और उनकी संज्ञा भी पत्नीकी ही तरह 'वधू' होती थी (१, १२६, ३;५, ४७, ६; ६, २७, ८; ८, १९, ३६;६८, १७)। इस संज्ञाकी विवाहिता पत्नीकी ही भाँति संभवतः उन्हें अनेक अधिकार मिल जाते थे। उनका यह नाम सार्थक तभी हो सकता था जब आवश्यकतावश उन्हें औरस पत्नी बन सकनेकी संभावना हो। आर्यवरको विवाहके अवसरपर ही 'वधू' रूपमें प्रदान की गई होनेसे उनका स्थान

पत्नीवत् हो जाता था, जिससे पति उनके साथ यथासमय निःशंक पतिवत् आचरण कर सकता था और पुत्रवती होनेपर तत्काल उनका पद विवाहिता पत्नीके समकक्ष हो जाता था वरना कक्षीवान्, औशिज, कवष आदि ऋषियों-की माताओंको असम्मत अथवा अनादृता माननेकी कष्टकल्पना करनी होगी। बहुपत्नी विवाहकी यह प्रथा वधू रूपमें पुरोहितों, ऋषियों आदि-को दानमें देनेकी रीतिसे पर्याप्त प्रचलित रही होगी। गाय, घोड़े, ऊँटके साथ ही वधुओंके रथ भर-भर दिये जानेका उल्लेख मिलता है (६, २७, ८;८, ६८, १७)। ऋग्वेद ८, १९, ३६ (५, ४७, ६ भी) के अनुसार राजा त्रसदस्युने सोभरि काण्वको 'वधू' रूपमें ५० दास-कन्याएँ दी थीं। स्वनय भावयव्यकी कन्या रोमशाके साथ विवाहमें कक्षीवान्को रथ भरकर वधुएँ दहेजमें मिली थीं (**स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दशरथासो अस्थुः—** १, २६, ३; और देखिए ७, १८, २२)। इन उदाहरणोंसे प्रकट है कि चाहे एकपत्नीत्व साधारण जनताका धर्म रहा हो, शक्तिमानों, समृद्धों और अभिजात्योंमें बहुपत्नी-विवाह छाये रहा है। सामरिक जीवनमें जब अधिकाधिक संख्यामें शत्रु-नारियाँ लूटी जाती थीं, उनका उपयोग पत्नियों या रखैलोंके रूपमें होना स्वाभाविक और अनिवार्य था।

बहुपति विवाहपर भी विद्वानोंमें कुछ कथोपकथन हुए हैं। यहाँ उस दिशामें प्रकाश डालना भी सार्थक होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रसंगमें ऋग्वेदमें पर्याप्त स्पष्ट प्रमाण नहीं है यद्यपि कुछ सामग्री ऐसी निश्चय है जो उस दिशामें संकेत करती है। अधिकतर तो इसी कारण निष्कर्षोंपर निर्भर करना पड़ता है। और ये निःसन्देह अकाट्य नहीं होते। फिर भी उनसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ किसी-न-किसी रूपमें किसी-न-किसी मात्रामें बहुपतित्व सहन कर सकता है और ऋषि उस स्थितिका अनुमान कर सकते हैं। यह स्वयं उस स्थितिकी आंशिक रूपसे स्थापना है।

साधारणतः तो विद्वानोंमें यह धारणा है कि बहुपति-विवाह अनार्य

प्रथा थी परन्तु जो प्रमाण संहितासे उपलब्ध है और जिनका उल्लेख हम नीचे करेंगे उनसे प्रकट है कि वह रीति आर्योंमें भी सर्वथा अनजानी न थी। फिर भी यहाँ पाठकोंको सावधान कर देना आवश्यक है कि प्रमाण अधिकतर धुँधले और परोक्ष हैं जिससे वे सर्वदा निश्चयात्मक नहीं हो पाते। उनका अधिकतर उपमाओं-अलंकारोंमें प्रच्छन्न रहना भी अनुसन्धाताकी कठिनाई बढ़ा देता है। पहले तो इस प्रकारके प्रमाणोंकी संख्या तीन-चार ही है यद्यपि उनका प्रयोग दो-दो तीन-तीन बार हुआ है। इनका प्रयोग तीन वर्गके देवताओंके सम्बन्धमें हुआ है जिनका सम्बन्ध प्राकृतिक तत्त्वोंसे है। वे हैं अश्विन् (अश्विनीकुमार), मरुत् और विश्वेदेवा। इनमेंसे पहले तीन तो प्रकृतिके स्पष्ट अवयव हैं और उनका परस्पर भी प्रायः घना सम्बन्ध है। दिव्य चिकित्सक अश्विन् प्रातः सायंकी गोधूलि अथवा तत्सम्बन्धी नक्षत्र हैं। वे युगल प्राणी हैं और उनका सम्बन्ध स्वाभाविक ही सूर्य और चन्द्रमासे है। वे चन्द्रमा (सोम) के सहवाल हैं और उसकी ओरसे सूर्यकी दुहिता सूर्याको जीत लेते हैं। अनेक बार सूर्याके वरोंके रूपमें, उसे रथपर बिठा ले जाते हुए, और स्वयंवरमें उसके जीतनेके लिए—संभवतः सोमकी ओरसे—रथ-धावन प्रतियोगितामें भाग लेते हुए उनका वर्णन हुआ है। सूर्यकी दुहिता उनसे आकृष्ट उनके रथमें चढ़ती हुई (१, ११८, ५) बताई गई है। अन्यत्र उसका उन्हें पतिके रूपमें वरण करना लिखा है (**पतित्वं····योषा वृणीत····युवां पतीम्—१, ११६, ५**)। यहाँ कुमारीका दो पति एक साथ वरण करना स्पष्ट है। परन्तु यह याद रखनेकी बात है कि अश्विन् जुड़वे देवता हैं जिनकी स्थिति सर्वथा एक व्यक्तिकी है। सूर्यकी दुहिता सूर्या सोमको व्याही है जो वस्तुतः चन्द्रमामें आश्रय करनेवाली सूर्यकी प्रभा है जो प्रातः सायं गोधूलि (अथवा उसके देवता अश्विन्) द्वारा अपने आश्रय (सोम-चन्द्र) तक पहुँचती है। वर वस्तुतः सोम है। इसे १०, ८५, ९ और स्पष्ट कर देता है। यह मन्त्र सूर्या-विवाहका है जिसमें पति अथवा वर सोम कहा गया

है और अश्विन् केवल उसके सहबाल हैं । विवाह सूर्याका वहाँ सोमके साथ ही होता है, अश्विनोंके साथ नहीं ।

मरुत् इन्द्रके सैनिक हैं । उनके सम्बन्धमें ऋग्वेदका एक वक्तव्य इस प्रकार है—"शालीना युवतीको युवाओंने अपने रथपर बिठा लिया" (**आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्** (१, १६७, ६) । इससे पहलेकी ऋचामें एक (साधारणी) पत्नीका मरुतों द्वारा मुक्त होनेका संकेत है—

परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः ।
न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः ।। (४)

वैसे ही ऋचा ५ में रोदसीका मरुतोंके प्रति और सूर्याका अश्विनोंके प्रति अनुरक्त होना लिखा है । इसी प्रकार मरुतोंके प्रति ऋषिका उद्गार है—"दूर जाओ, वीरो, अकेली पत्नीके वर, दूर जाओ" (**परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानयः—५, ६१, ४**) । जैसे कवि अश्विनोंमेंसे एकको नहीं सोच सकता, मरुतोंको भी अकेला नहीं सोच सकता और उनमें अकेली बसनेवाली (बादलोंकी प्रिया) रोदसी (बिजली) को उनकी भार्या मान लेना स्वाभाविक ही है ।

विश्वेदेवाः स्पष्ट ही अनेक देवताओंके दल हैं । उनके संबंधका वक्तव्य प्रायः निश्चयात्मक है—"एक ही नारीके साथ पक्षधर अश्वोंपर चढ़े हुए दोनों मार्गमें यात्रीकी भाँति जाते हैं (**विभिर्द्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः—८, २९, ८**) । इसमें एकके बाद एक, पाण्डवोंकी भाँति, पत्नीके साथ रहनेकी ध्वनि है । महत्त्वकी बात यह है कि समयके विचार से महाभारत और इस मन्त्रके कालमें बहुत अन्तर नहीं है । संहितामें एक ही नारीके अनेक पतियों और ससुरोंके संबंधका उल्लेख निम्नलिखित प्रसंगोंमें हुआ है यद्यपि संदर्भ संदिग्ध और अस्पष्ट है—७,३३, १३; ८, १७,७; १०,८५,३७-३८; १०, ९५, १२ ।

कुछ अजब नहीं कि वास्तविक विवाहके पूर्व मानव पतिसे पहलेके जिन सोम, अग्नि और गन्धर्व नामक अपार्थिव पतियोंका ऋग्वेदमें (१०, ८५, ४०) उल्लेख हैं वे दूर प्राचीन कालमें बहुपतित्व (पोलियांड्री) के ही प्रतीक रहे हों। नियोगकी प्रथा भी प्रबल रूपमें एक समय जो ऋग्वैदिक समाजमें प्रचलित थी उससे भी बहुपति संबंधका एक अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। निःसन्देह नियोग और बहुपतिमें मात्र मात्राका अन्तर है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। एकको स्वीकार कर दूसरेको प्रसिद्ध करना कठिन है। फिर पितृनामोंके बजाय प्राचीन कालमें मातृ नामका व्यवहार भी उसी स्थितिकी ओर दूरका संकेत करता है। मातृसंज्ञक नाम शायद इसलिए कि पिताका निश्चयात्मक बोध नहीं, पर मातृत्वमें तो खैर सन्देह हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार 'देवृकामा' शब्दका वधूके संबंधमें प्रयोग भी इसी दिशामें संकेत करता है। इसका अर्थ है—'देवरकी कामना करने वाली।' यदि यह उल्लेख मृत्युके प्रसंगमें हुआ होता तो इससे विधवानन्तर दशाका संकेत माना जा सकता, परन्तु यह तो विवाह-के अवसर पर ही प्रयुक्त हुआ है। हाँ, इतना जरूर है कि सूर्याविवाह संबंधी सूक्त, जिसमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है, अनेक कालकी ऋचाओं-का संग्रह है और कुछ अजब नहीं कि, यद्यपि संहिताकालमें नहीं, अत्यन्त प्राचीनकालमें, जिसके प्रति उनका संकेत है, ऐसी व्यवस्था रही हो जब वधूका व्याह घरके सारे भाइयोंसे होता रहा हो। तब उसका देवरमें रति रखना कुछ अजब न रहा होगा। आखिर आजके समाजमें भी देवरका भाभीसे दिल्लगी करना और अनेक जातियोंमें पतिके मरते ही विधवाका उसके भाई (देवर) से विवाह (जैसा ऋग्वेद-कालमें साधारणतः होता था) कुछ सार्थकता रखते हैं।

निश्चय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रमाण अस्पष्ट, कुछ दुर्बल और संदेहात्मक हैं पर वे नितान्त हेय भी नहीं है और उनकी सर्वथा अव-हेलना भी नहीं की जा सकती। उनकी पूर्व-परकी स्थितियोंपर विचार

करना होगा। हमें प्रायः तभीके कुछ उदाहरण मालूम हैं। कुन्ती और माद्रीने अपने प्रकृत पति पाण्डुके रहते सूर्य, धर्म, वायु, अश्विनीकुमार आदिसे पुत्र जने थे, कुछ पहले शान्तनुकी पुत्रवधुओंने भी। निश्चय ये उदाहरण नियोगके हैं, परन्तु नियोग द्वारा चाहे जितने कम समयके लिए पुरुष पत्याचरण करता हो स्थान उसका पतिका ही है। फिर पाँच पाण्डवों का एक द्रौपदीसे विवाह उसीको पुष्ट करता है। महाभारतमें इसे संमान्य बनानेका काफ़ी प्रयत्न हुआ है परन्तु उससे समाधान हो नहीं पाता, विशेष-कर जब हम पाण्डुके हिमालयवासको देखते हैं जहाँ तिब्बतमें सदासे बहुपति विवाहकी प्रथा प्रचलित रही है, जिसका उल्लेख वात्स्यायनने अपने 'गोयूथिकम्' सूत्रमें किया है, और ओ आज भी अनेकांशमें वहाँ क़ायम है। हाँ, यह माननेमें कोई हठधर्मी नहीं होनी चाहिए कि बहुपति-प्रथाकी ओर सम्भवतः ऋग्वेदका संकेत समसामयिक समाजके प्रति न होकर अति प्राचीनके प्रति है, यद्यपि उससे स्थितिमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

संस्कृतके नाटक

कालिदासने नाटकको 'शान्त चाक्षुष यज्ञ' (**शान्तं क्रतुं चाक्षुषं**) कहा है। इस 'प्रयोगप्रधान' (**प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रं**—मालविका० पृ० १७) कलामें भारत कबसे प्रवीण रहा है यह कहना तो निश्चय कठिन है पर इसे स्वीकार करना प्रायः प्रकृत है कि अभिनयकी परम्परा सहस्राब्दियों प्राचीन है।

भरतके 'नाटचशास्त्र' में नाटकके आरम्भका परम्परागत दृष्टिकोण दिया हुआ है—

> **जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।**
> **यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ (१, १७)**

"ऋग्वेदसे पाठच, सामवेदसे गान, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लेकर" ब्रह्माने पाँचवें—नाटच-वेद—की रचना की। नाटचशास्त्रके पहले अध्यायमें इस परम्परासे सम्बन्धित कथा इसी प्रकार दी हुई है—मानवोंको दुखी देख इन्द्रादि देवताओंने ब्रह्मासे चारों वेदोंसे भिन्न किसी ऐसे वेदका निर्माण करनेकी प्रार्थना की जिससे संहिताओंके साधारण अनधिकारी स्त्री, शूद्रादिकोंका मनोरंजन हो। परिणामस्वरूप इस प्रकार वेदकी रचनाकर ब्रह्माने उसके प्रयोगका कार्य पुत्रों सहित भरत मुनिको सौंपा। पहले यह प्रयोग 'भारती', 'सरस्वती' और 'आरभटी' वृत्तिमें शुरू हुआ, फिर ब्रह्माने भरत मुनिसे 'कौशिकी' वृत्तिका प्रयोग करनेको कहा। परन्तु चूँकि उसके लिए स्त्री पात्रोंका होना अनिवार्य था इससे ब्रह्माने मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओंको सिरज नारदादि

गन्धर्वोंके साथ भरत मुनिको सौंपा। मुनिने नाटकका पहला प्रयोग इन्द्रके ध्वजोत्सवमें किया। इन्द्रकी आज्ञासे विश्वकर्माने नाट्यगृह बनाया। फिर तो एकके बाद एक अनेक नाटक खेले गये। 'अमृतमन्थन' (समवकार), 'त्रिपुर-दाह' (डिम) उनमें विशिष्ट थे। कालिदासने भी उस परम्पराको भरतमुनि और उनके 'अष्टरसाश्रय' तथा 'ललिताभिनय' (नाट्य-शास्त्र, अध्याय ६-१०) के प्रसंगोंका उल्लेख कर ध्वनित किया है—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तदद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥ (विक्र० २,१७)

स्वयं भरतके नाट्यशास्त्रका रचनाकाल तीसरी सदी ईसवीसे पीछे नहीं रखा जा सकता। पाँचवीं सदीके कालिदासने उनका उल्लेख अत्यन्त श्रद्धापूर्वक किया है जिससे उसकी प्राचीनता प्रकट होती है। कुछ अजब नहीं कि यह शास्त्र और भी प्राचीन हो, क्योंकि साहित्यिक परम्परा यह भीं है कि भरतका शास्त्र उनके सूत्रोंपर अवलम्बित है, और सूत्र निश्चय और प्राचीन थे।

कालिदासने अपने पहलेके नाट्यकारोंमें महान् भास, सौमिल्ल और कविपुत्रका उल्लेख किया है, पर निश्चय उनकी शक्ति मानते हुए भी महाकविने विशेष आदर और महिमा भरतको 'मुनि' कह कर दी है। प्रकट है कि कालिदास भरतको इन नाट्यकारोंसे पूर्वका मानते हैं। इनमें सौमिल्ल और कविपुत्रका काल तो जाना हुआ नहीं है पर भासका समय सन्दिग्ध होकर भी साधारणतः तोसरी सदी ईसवी माना जाता है, वैसे वह काल भरत मुनिकी भाँति ही ई० पू० तीसरी सदी तक अनेक लोग मानते हैं। कुछ अजब नहीं जो भरतके नाट्यशास्त्रके कमसे कम कुछ अंश अश्वघोष और भाससे प्राचीन हों। उस स्थितिमें उन्हें हमें पहली सदी ईसवीसे पूर्व ही रखना होगा। फिर स्वयं भास और अश्वघोषकी रचनाएँ

शैली और सौन्दर्यमें इतनी प्रौढ और निखरी हुई हैं कि उनको संस्कृत साहित्यकी प्रारम्भिक नाट्यकृतियाँ किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। इससे उनका विकासकाल भारतीय नाटकके प्रारम्भका समय और पूर्व फेंक देगा। साथ ही नाट्यशास्त्र स्वयं प्रस्तुत कृतियोंको सामने रख कर ही रचा गया होगा। सिद्धान्त (आलोचना आदि सभी) सदा प्रयोगके बाद आविष्कृत होता है। उस दशामें निःसन्देह नाट्यकृतियोंकी नाट्यशास्त्रसे पूर्व स्थिति माननी होगी। और प्राचीन साहित्यमें इस ओर पर्याप्त संकेत विद्यमान हैं।

ई० पू० पाँचवीं सदीके वैयाकरण पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायी (४, ३, ११०) में शिलाली और कृशाश्वके नटसूत्रोंका उल्लेख किया है। कौटिल्यके 'अर्थशास्त्र'में 'कुशीलव' शब्दका प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अभिनेता होता है। इस शब्दका प्रयोग मनुने भी अपनी स्मृतिमें किया है, अभिनेताके ही अर्थमें, जिससे नट, नर्तक आदिका भी अर्थ लगाया जा सकता है। मनुस्मृतिका रचनाकाल शुंग-युग (ई० पू० दूसरी सदी) माना जाता है जिससे वह कृति और पतञ्जलिका 'महाभाष्य' पुष्यमित्र शुंगके समकालीन ठहरते हैं। इस महाभाष्यमें दो नाटकों—कंसवध और बलिबन्ध—का उल्लेख हुआ है। साथ ही भाष्यकारने अभिनेताओंके वर्ण-लेखन और तीन प्रकारके अभिनेताओंका उल्लेख किया है। रामायण और महाभारतके स्पष्ट संकेत भी उस दिशामें हुए हैं। रामायणने तो 'नाटक' शब्दका ही प्रयोग किया है और महाभारत (३, ३०, २३) काष्ठमयी नारीपात्रका उल्लेख करता है। हरिवंशमें तो कृष्णके वंशधरों द्वारा नाटक खेले जानेका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

यह प्रसंग हमें भारतीय (संस्कृत) नाटकके मूलके सम्बन्धमें भी विचार करनेको बाध्य करता है, विशेषकर इस कारण कि देशी-विदेशी विद्वानोंमें इस दिशामें पर्याप्त चर्चा हुई है। कुछ लोगोंने नाटकका आरम्भ विष्णु-पूजाके आधारसे माना है, कुछने पुतलियोंके नाचसे। कुछ उसका

मूल वेदोंमें देखते हैं, कुछ सर्वथा ग्रीक रंग-व्यवस्थामें। ऐसे भी विद्वान् हैं जो नाटकका आरम्भ मृत पूर्वजोंकी पूजा और छाया-नाटकोंसे सम्बन्धित मानते हैं। ये सारे दृष्टिकोण समान महत्त्वके नहीं है। सही है कि छाया-नाटकका प्रभाव असाधारण रहा है और भारतसे चीन तक, तिब्बतसे हिंदेशिया तक वह प्रचलित रहा है, अनेकांशमें आज भी है। पर प्रकट है कि उसे नाटकका आरम्भ नहीं माना जा सकता क्योंकि वह स्वयं एक प्रकार-का नाटक है और उसे मूल मानकर फिर उसके मूलकी भी खोज करनी होगी। इसमें और दृष्टिकोण तो गौण हैं और उनका संकेत वस्तुतः नाटकीय परम्पराके विकासमें उनके सहायक होनेकी ओर है, नाटकका मूल होनेकी ओर कदापि नहीं। विचारणीय दृष्टिकोण केवल दो हैं—ग्रीक रंग-व्यवस्था और पुतलियोंका नाच।

संस्कृतके नाटकोंका आरम्भ, अन्त, रंग-निर्देश, यवनिका, विदूषक, प्रतिनायक आदिका प्रयोग और सीनावेंगा गुफाके ग्रीक मंचानुकृतिके आधारपर ग्रीक नाटक-शैलीके प्रति उनका ऋणी होना कहा जाता है। निश्चय विचार आधारहीन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर इस दृष्टि-कोणको लेकर काफ़ी हठधर्मीका परिचय दिया गया है। विदेशी पण्डितोंने इस दिशामें तर्कसे कम और ज़िद्से अधिक काम लिया है। इसके विप-रीत भारतीय पण्डितोंने भी हठका आचरण किया है जो भारतीय नाटकों पर किसी प्रकारका विदेशी प्रभाव नहीं मानते। पर जैसे आज भी हमारे साहित्य और रंगमंचको संसारके साहित्य और रंगमंच प्रभावित कर रहे हैं वैसे ही संबन्ध होने पर एकको सदा दूसरेका लाभ हुआ है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। सही तो यह है कि भारतीय नाटकों और ग्रीक नाटकोंमें अन्तर अधिक है, समानता कम। 'देश-कालकी एकता'में, रंगमंचके रूप-विधानमें, नाटकोंके 'कामिक' और 'ट्रैजिक' रूपमें इतना अन्तर है कि संस्कृतके नाटकोंका उद्गम ग्रीक नाटकोंको बताना सर्वथा अनुचित होगा। यह भी सही है कि सन्त क्रिसोस्तमने सन् ११७ ई०

में ही लिखा और हाल ही बादके प्लूतार्क और ईलियनने इसका समर्थन किया, कि 'भारतीयोंने होमरकी कविताएँ अपनी भाषामें अनूदित कर ली हैं और उन्हें वे गाया करते हैं', परन्तु निःसन्देह यह भ्रांति 'ईलियद' और 'रामायण'की कथा-वस्तुकी आकस्मिक समानताके कारण ही हुई होगी। फिर भी हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि ग्रीक भारतमें दीर्घकाल तक—सदियों—घर बनाकर, नगर बसाकर, रहे थे। उनके पत्तल, युथिदेमिया, दिमित्री, तक्षशिला, शाकल आदि नगर प्रायः पूर्णतः ग्रीकोंके थे। इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक नगर थे जहाँ ग्रीकोंके अपने अलग मुहल्ले थे, जहाँ सदा वे अपने नाटक खेला करते थे, अपने प्रसिद्ध 'औलिंपिक' खेल खेला करते थे। कोई कारण नहीं कि उनका प्रभाव हमारे नाटकोंपर न पड़ा हो। विशेषकर जब हमने उनसे अपनी गान्धार-कला पायी, रोमक और पोलिश सिद्धान्त (वराहमिहिरकी पंचसिद्धान्तिका देखिये, गार्गी-संहिता—'यवन म्लेच्छ हैं, पर ज्योतिषशास्त्रके आरभयिता होनेके कारण वे देववत् पूजनीय हैं।') पाये, तो कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे नाटकोंपर भी जिस क्षेत्रमें उनकी विलक्षणता सराहनीय थी, उनका प्रभाव पड़ा हो। कहाँ पड़ा है, यह विचारणीय और अनुसंधानके योग्य है। इसका विशेष अध्ययन होना चाहिए। इसमें भी शायद सन्देह नहीं हो सकता कि रंगमंचपर परदोंका विशेष प्रयोग ग्रीक रंगमंचके सपर्कसे ही शुरू हुआ। 'यवनिका'का अर्थ ग्रीक रंगमंचके परदेसे भिन्न करना अनर्थ ही करना है।

लगता है कि भारतीय नाटकका आरम्भ पुतलीके नाचसे हुआ। साधारणतः विद्वानोंका मत है कि नाचका प्रारम्भ अति प्राचीन कालमें भारतवर्षमें ही हुआ। उसमें सूतसे नचानेवालेका नाम भी नाटकोंके सूत्रधारकी ही भाँति 'सूत्रधार' ही था। उसका सहकारी भी नाटकोंके स्थापककी भाँति 'स्थापक' ही कहलाता था। पुत्तलिकाओंके अनेक वर्णन साहित्यमें आते हैं। राजशेखरने सीताका नाट्य करती बोलती

पुत्तलिकाका वर्णन किया है। इतना फिर भी है कि केवल इसीके आधार पर नाटकका आरम्भ मानना भी उचित नहीं होगा। इससे इतना निश्चय सिद्ध हो जाता है कि नाटकके प्रायः सभी प्रारम्भिक साधन पुतली के नाचने प्रस्तुत कर दिये थे। उसे ऋग्वेदके संवादात्मक अनेक स्थलोंसे विशेष सहायता मिली होगी। यम-यमी, सरमा-पणियाँ, पुरुरवा-उर्वशी, शची-वृषाकपि आदिके अनेक स्थल उस वेदमें हैं जो प्रौढ़ 'डायलाग'का कार्य कर सकते थे। साथ ही इन्हें अनेक प्रकारकी लीलाओं, विष्णुपूजन आदिसे भी सहायता मिली होगी। रंगमंच खड़ा हो गया।

२

संस्कृत नाटकका स्वरूप

संस्कृतके नाटकको भी काव्यका अंग माना गया है। काव्यके दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य केवल कर्णसुखद होता है, दृश्यकाव्य नाटक है जिससे कानों और नेत्रों दोनोंको सुख होता है। उसीसे उसकी विशिष्टता भी घोषित की गई है—**काव्येषु नाटकं रम्यम्।**

संगीत, नर्तन, गायन और वादन तीनोंके समाहारको कहते हैं। पर संगीतके साथ अभिनयका संबंध कर नाटक अथवा दृश्य-काव्यने दर्शकोंको मुग्ध कर लिया। इसकी सर्वग्राहिताको ही लक्ष्य कर भरत मुनिने नाट्य-शास्त्रमें कहा है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं, शिल्प, विद्या, कला नहीं, योग और कर्म नहीं जो नाटकमें न हो।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥१,११४॥

संस्कृतके नाटकोंमें सबसे अधिक ज़ोर रसबोध और रसात्मकता पर दिया गया है। नाट्य नियमों-उपनियमोंसे वे पर्याप्त बँधे रहे

हैं। उनका दुःखान्त होना अनुचित माना गया है। जन-कल्याण उनका इष्ट है इससे सावधि दुःखमय यथार्थसे दूर हट वे देखनेवालोंका कल्पित सुखी संसारसे साक्षात् कराते हैं। यथार्थ संभवतः कष्टकर है जिसका यथास्थित रूप देखनेवालोंमें केवल अवसाद और मायूसी पैदा करेगा। इससे उस आदर्श 'यूटोपियन' संसारको ही रूपायित करना उन्हें इष्ट है जिसे देखकर मनको ढाढस बँधे। इसीसे शुद्ध ग्रीक नाटकोंके रूपमें भारतीय नाटक-क्षेत्रमें 'ट्रैजेडी' भी नहीं है। हाँ, 'विप्रलंभ-श्रृंगार' में इतनी करुणा संचित हो जाती है कि स्वतन्त्र 'ट्रैजेडी' की सारी कमी एक साथ पूरी हो जाय। इससे शोकपर्यवसायी न होकर भी उनमें गहरी वेदनाकी अनुभूति रहती है। इस प्रकार 'कामेडी' या सुखपर्यवसायीका शुद्धरूप भी हमारे यहाँ नहीं मिलता। केवल अन्त निश्चय इस प्रकारके नाटकोंका कल्याणकर अथवा सुखद होता है। इससे उनमें युद्ध, रक्तपात, मृत्यु आदि रंगमंचपर नहीं दिखाये जाते। हास्य होता है पर घटिया क़िस्मका, अधिकतर भोजन सम्बन्धी हास्यकी स्थितियाँ उत्पन्न करके एक ही प्रकारका व्यक्ति—विदूषक जो सदा ब्राह्मण होता है—सारे नाटकोंमें समान रूपसे पेटूपन द्वारा दर्शकोंको हँसानेका प्रयत्न करता है। संस्कृतका केवल एक नाटक—मृच्छकटिक—सही दृष्टिसे 'कामेडी' कहा जा सकता है। वैसे संस्कृत नाटकका परिहास असफल है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, नाटकका प्रत्येक अंग नियमों द्वारा बाँध दिया गया है जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। नायक, उपनायक, विदूषक, नायिका आदि सबका स्वरूप निश्चित होता है। कौन किस प्रकारकी भाषाका प्रयोग करेगा, किस वर्णका व्यक्ति कौन-सी 'भूमिका' कर सकता है—सब कुछ पहलेसे स्थिर किया जा चुका है। नारी, शूद्र, विदूषक आदि सदा प्राकृतका प्रयोग करते हैं। यह भी अधिकतर निश्चित होता है कि कौन किस प्राकृतका प्रयोग करे। उच्चकोटिकी ललनाएँ ललितपदीय महाराष्ट्री प्राकृत बोलती हैं। साधारणतः वे, बच्चे और

उच्चपदीय नौकर आदि शौरसेनी बोलते हैं। इसी प्रकार राजप्रासादके अनुचर अधिकतर मागधी, शठ-जुआरी आदि अवन्ती, गोप-आभीर अभीरी, मशालची पैशाची, और बर्बर, म्लेच्छ, नीच वर्णवाले अधिकतर अपभ्रंश बोलते हैं। राजा, पुरोहित, मंत्री, उच्चपदस्थ राजपुरुष, परिव्राजक-परिव्राजिका संस्कृत बोलते हैं। आश्चर्य होता है कि जहाँ दुष्यन्त और राम संस्कृत बोलते हैं, शकुन्तला और सीता तक उनका उत्तर प्राकृतमें ही देती हैं! यह सही है कि प्राकृतें भी एक रूपसे संस्कृत होकर अपना स्थायी 'स्टाइलाइज़्ड' (शैलीगत) रूप धारण कर चुकी हैं, पर निःसन्देह हैं वे गाँवकी ही बोलियाँ, और पीछे चाहे ऐसा परम्परागत हो जानेसे भाव न रहा हो, कभी वे बोलनेवालेकी मर्यादाकी द्योतक भी रही होंगी।

संस्कृत नाटककी कथावस्तुकी पाँच संधियाँ होती हैं—१. मुख (प्रवेशक), २. प्रतिमुख (उदय-विस्तार), ३. गर्भ (अन्तरंग-विकास), ४. विमर्श (विराम), और ५. निर्वहण (अन्त)। प्रत्येक नाटक परिचयात्मक भूमिकाके साथ आरम्भ होता है। मंगलात्मक 'नान्दी' श्लोकसे आरम्भ होकर नाटकका पहला 'डायलाग' सूत्रधार और नटी आदि पात्रोंके बीच होता है। साथ ही उनमें नाट्यकार, नाटकके वस्तु आदिके प्रति भी संकेत होता है और उसी संवादमें नाटकका पात्र भी शामिल हो लेता है। दृश्य और अंक फिर खुल पड़ते हैं। दृश्योंका प्रकाशन पात्रोंके 'प्रवेश', 'प्रस्थान' आदिसे होता है, अंकोंका तो नाटकमें ही स्पष्ट उल्लेख रहता है। अंकके अन्त तक कभी रंगमंच खाली नहीं रहने पाता। अंकके बीचमें स्थान-परिवर्तनका भी निर्देश साधारणतः नहीं होता। नये अंकके आरम्भके पहले परिचयात्मक रूपसे कोई डायलाग (संवाद) या किसी अकेले पात्रका वक्तव्य प्रस्तुत होता है। उसे 'विष्कम्भक' अथवा 'प्रवेशक' कहते हैं। उसमें बीचमें घटी घटनाओं और आगे घटनेवाली परिस्थितियोंकी ओर संकेत होता है। अन्तमें मंगल श्लोकके साथ सबके हितकी कामना करता नाटक समाप्त होता है।

संस्कृतमें नाटकका शास्त्रीय नाम 'रूपक' है, नाटक तो रूपकके ही एक भेदका नाम है। साधारणतः उसके दो प्रधान भेद हैं, मुख्य (रूपक) और गौण (उपरूपक), और इनके शास्त्रकारके अनुसार भिन्न-भिन्न उपभेद हैं। अपने 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथने रूपकके दस और उपरूपकके अठारह भेद गिनाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

रूपक—१–नाटक (जैसे कालिदासका अभिज्ञानशाकुन्तल), २–प्रकरण (भवभूतिका मालतीमाधव), ३–भाण (वत्सराजका कर्पूरचरित), ४–व्यायोग (भासका मध्यमव्यायोग), ५–समवकार (वत्सराजका समुद्रमंथन), ६–डिम (वत्सराजका त्रिपुरदाह), ७–ईहामृग (वत्सराजका रुक्मिणीहरण), ८–अंग अथवा उत्सृष्टिकांश (शर्मिष्ठाययाति), ९–वीथी (मालविका), और १०–प्रहसन (महेन्द्रविक्रम वर्मन्का मत्तविलास)।

उपरूपक—१–नाटिका (श्रीहर्षकी रत्नावली), २–त्रोटक (कालिदासकी विक्रमोर्वशीय), ३–गोष्ठी (रैवतमदनिका), ४–सट्टक (राजशेखरकी कर्पूरमंजरी), ५–नाट्यरासक (विलासवती), ६–प्रस्थान (शृंगारतिलक), ७–उल्लाप्य (देवीमहादेव), ८–काव्य (यादवोदय), ९–प्रेंखण (वालिवध), १०–रासक (मेनकाहित), ११–संपाक (मायाकापालिक), १२–श्रीगदित (क्रीड़ारसातल), १३–शिल्पक (कनकवतीमाधव), १४–विलासिका (उदाहरण अनुपलब्ध), १५–दुर्पल्लिका (विन्दुमती), १६–प्रकरणिका (उदाहरण अनुपलब्ध), १७–हल्लीश (केलिरैवतक), और १८–भणिका (कामदत्ता)। (जिन कृतियोंके रचयिताओंके नाम कोष्ठकोंमें दिये हुए हैं वे प्रकाशित और उपलब्ध हैं, जिनके नाट्यकारके नाम नहीं दिये हुए हैं वे कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं। जिन उपरूपकोंके उदाहरण नहीं दिये गये हैं उनके उदाहरण विश्वनाथने भी नहीं दिये।)

यहाँ इन भेदोंकी संक्षिप्त व्याख्या कर देना उचित होगा। नाटकमें पाँचसे दस तक अंक होते हैं और इसका कथा-प्रबन्ध (संविधानक) कोई इतिहास-प्रसिद्ध कथानक रहता है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इसमें पाँच संधियाँ होती हैं, जिनकी प्रधान कथाका उन्नयन सहायक कथांश करते हैं। इसका नायक धीरोदात्त विख्यात पराक्रमी राजर्षि होता है, कभी-कभी दिव्य भी। इसका प्रधान रस वीर या शृंगारका होता है। दस अंकोंके नाटकको 'महानाटक' कहते हैं, जैसे 'हनुमन्नाटक'। प्रकरणका कथानक लौकिक होता है। कल्पित नायकका प्रख्यात होना आवश्यक नहीं। अंक संख्याका बन्धन नहीं है पर प्रायः प्रकरणमें दस अंक तक होते हैं। भाण एक ही अंकमें धूर्त-चरित प्रस्तुत करता है। व्यायोगमें भी एक ही अंक होता है। समवकारमें अंक तीन होते हैं और उसका आमुख नाटकका-सा होता है। डिममें चार अंक होते हैं और वह व्यायोगकी ही भाँति हास्य-शृङ्गार प्रधान होता है। ईहामृगमें भी चार अंक होते हैं और उसका कथानक दिव्य-लौकिक मिश्रित होता है। अंक एकांकी होता हैं। उसका स्थायी रस करुण है। वीथी भी भाणवत् एकांकी होता है। उसका प्रधान रस शृङ्गार है। प्रहसन भी हास्य प्रधान एकांकी है।

नाटिका स्त्रीपात्र बहुल चार अंकोंकी होती है। नायक धीर-ललित राजा होता है। त्रोटक पाँचसे नौ अंकों तकका होता है और उसके प्रत्येक अंकमें विदूषकका प्रवेश होता है। गोष्ठी एकांकी होती है जिसमें नौ-दस पुरुष पात्र और पाँच-छः स्त्री पात्र रहते हैं। सट्टक केवल प्राकृत भाषाका उपरूपक है। उसकी एक विशेषता यह भी है कि उसमें अंकके स्थानमें 'जवनिका' होती है। जवनिका प्रमाणतः अंककी ही परिमाण है और इसमें प्रत्येक जवनिका (अंक) के बाद पर्दा गिरता है। जवनिका (यवनिका) ग्रीक पर्देकी याद दिलाती है। नाट्यरासक उदात्त नायक और हास्य प्रधान एकांकी है। प्रस्थान नायक-नायिका दास-दासियों वाला दो अंकोंका उप-

रूपक है। उल्लाप्यमें एक या तीन अंक होते हैं। इसमें एक दिव्य उदात्त नायक और चार नायिकाएँ रहती हैं। काव्य एक अंकका हास्यप्रधान उपरूपक है। इसमें स्त्री ही नायकका कार्य करती है। प्रेंखण सूत्रधार रहित हीन नायक युक्त एकांकी है। रासक मूर्ख नायक युक्त एकांकी है। संलापक तीन-चार अंकोंका होता है। उसका नायक पाखण्डी होता है। श्रीगदित प्रसिद्ध संविधानक वाला एकांकी है। नायक उसका उदात्त होता है। शिल्पकका नायक ब्राह्मण होता है। अंक उसमें चार होते हैं, रस शान्त और हास्य नहीं होते। विलासिका श्रृङ्गार प्रधान एकांकी है। इसमें नायिका नहीं होती, जिससे इसकी संज्ञा 'विनायिका' भी है। नायक इसका हीन होता है। दुर्मल्लिकाका नायक भी हीन होता है। इसमें अंक चार होते हैं। प्रकरणिका या प्रकरणीका नायक सार्थवाह और नायिका भी सदृश कुलकी होती हैं। अंक इसमें भी चार होते हैं। हल्लीश एकांकी उपरूपक है। इसमें सात-आठ या दस स्त्री पात्र होते हैं। भणिका भी एकांकी है। उनकी नायिका उदात्त होती है।

३

नाट्यकार और उनके नाटक

संस्कृतके नाट्यकारों और उनकी कृतियोंकी समीक्षा तो यहाँ संभव नहीं पर उनमेंसे प्रधानका संक्षिप्त परिचय दे देना शायद उपादेय होगा। यहाँ हम केवल तेरह-चौदह नाटककारों और उनकी रचनाओंका उल्लेख करेंगे। वे हैं, अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास, विशाखदत्त, हर्ष, महेन्द्रविक्रम, भवभूति, भट्टनारायण, मुरारि, राजशेखर, क्षेमीश्वर, दामोदरमिश्र और कृष्णमिश्र।

यदि भासका समय निश्चय पूर्वक पहली सदी ईसवीके बाद रक्खा

जा सके तो संस्कृतका पहला जाना हुआ नाटचकार बौद्ध महाकवि और दार्शनिक अश्वघोष था। वह अभी तक केवल दार्शनिक और काव्यकारके रूपमें जाना जाता था। पर कुछ साल हुए जब सर आरेल स्टाइनने मध्य-एशियामें तुर्फ़ानकी रेतसे उसकी रचना 'सारिपुत्र प्रकरण' खोद निकाली तबसे उसकी ख्याति नाटचकारके रूपमें भी हुई। यह प्रकरण सारिपुत्र और मौद्गलायनके बौद्धधर्ममें दीक्षित होनेका प्रसंग नौ अंकोंमें प्रस्तुत करता है। अभाग्यवश इसके अन्तिम अंश ही प्राप्त हो सके। यह ताड़पत्रों पर लिखा है और साधारणतः अन्य कृतियोंके विपरीत इसपर रचयिताका नाम भी लिखा था जिसे लूडर्सने पढ़ा। यह प्रकरण रचना-कौशलकी दृष्टिसे पर्याप्त प्रौढ है। अश्वघोषके काव्य 'बुद्धचरितं,' 'सौन्दरनन्द' और गाथा-ग्रन्थ 'सूत्रालंकार' प्रसिद्ध हैं।

अश्वघोष ब्राह्मण था जो बौद्ध हो गया था। उसकी माताका नाम सुवर्णाक्षी था। वह कुषाणराज कनिष्कका समकालीन था। कहते हैं कि कनिष्कने पाटलिपुत्र (पटना) पर धावा कर उसका बलपूर्वक हरण कर लिया और उसे कश्मीर-पुरुषपुर ले गया। कश्मीरमें पहली सदी ईसवीमें होनेवाली बौद्ध संगीतिमें उसने भी भाग लिया। उसका स्वर बड़ा मधुर था। काव्य और नाटक दोनों रूपमें वह सम्भवतः कालिदासका प्रेरक था।

भास संस्कृतके प्रख्यात नाटककारोंमें गिना जाता है। कालिदास सौमिल्ल और कविपुत्रके साथ उसे भी अपने मालविकाग्निमित्रमें 'प्रथित-यशम्' कहकर सराहा है। अलंकारशास्त्रों और सुभाषितोंमें भी बार-बार उसका उल्लेख हुआ है पर अभी हाल तक उसकी कोई रचना उपलब्ध न थी। एकाएक सन् १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्रीके हाथ तेरह नाटकोंका संग्रह लगा जिसे उन्होंने भासके नामसे प्रकाशित किया। बस भास संस्कृत साहित्यके जिज्ञासुओंके लिए उलझी समस्या बन गया। कारण कि कुछ विद्वानोंने तो उन नाटकोंको सर्वथा भासका मान लिया,

कुछने उन्हें उसका माननेसे सर्वथा इनकार कर दिया। कुछ ऐसे भी हैं जो उन्हें भासका ही मानते हैं पर सम्पादित और संरक्षित रूपमें। जो भी हो, दो बातें उस सम्बन्धमें सही जान पड़ती हैं—एक तो यह कि उनका रचयिता एक ही जन है, दूसरी यह कि वे नाटक कालिदासके नाटकोंसे प्राचीन हैं।

भासके नाटक सुललित वैदर्भी शैलीमें लिखे हुए हैं और सरल होते हुए भी उनमें अद्भुत गति और शक्ति है। उनकी नाटकीयता इतना साहित्यिक टेकनीककी परवाह नहीं करती। इन तेरहोंके नाम ये हैं—१–प्रतिमा, २–अभिषेक, ३–मध्यम-व्यायोग, ४–दूत-घटोत्कच, ५–कर्ण-भार, ६–ऊरुभंग, ७–दूतवाक्य, ८–पंचरात्र, ९–बालचरित, १०–स्वप्न-वासवदत्ता, ११–प्रतिज्ञायौगन्धरायण, १२–चारुदत्त, १३–अविमारक।

इन नाटकोंकी कथावस्तु रामायण, महाभारत, हरिवंश और पुराणों तथा गुणाढ्यकी बृहत्कथासे ली गई है। इस प्रकार ये तीन वर्गके हैं। पहले दो रामायण-वर्गके हैं, अगले सात महाभारत, हरिवंश और पुराण-वर्गके और शेष चार बृहत्कथा-वर्गके। उनकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—प्रतिमा सात अंकोंमें लिखा नाटक है। उसका कथानक दशरथकी मृत्युसे शुरू होकर रामके वनसे लौटने पर समाप्त होती है। अभिषेक भी ६ अंकोंका नाटक ही है जिसका विषय रामका राज्याभिषेक है।

मध्यम-व्यायोग एकांकी व्यायोग है जो चरित्र-चित्रणके लिए पर्याप्त सराहा गया है। उसमें मध्य पाण्डव (भीम) के प्रति हिडिम्बाका प्रेम निरूपित हुआ है। दूत-घटोत्कच भी एकांकी व्यायोग ही है। उसमें अभिमन्यु-वधके बाद घटोत्कच दूत बनकर कौरवोंको बताता है कि अर्जुन उनके दण्डके लिए उद्यत है। व्यायोग कर्णभारमें इन्द्र द्वारा कर्णके कवच और कुण्डल चुरानेकी घटना है। ऊरुभंग एकांकी अंग है जिसमें भीम और दुर्योधनका गदायुद्ध और दुर्योधनकी जाँघका तोड़ा जाना अंकित है। दूत-

वाक्य भी व्यायोग है। उसमें कृष्ण पाण्डवोंका दूत बनकर दुर्योधनके पास जाते हैं। वह उन्हें भूमि देनेसे इनकार करता और कृष्णको बन्दी करनेका असफल प्रयत्न करता है। पंचरात्र तीन अंकोंका समवकार है। उसमें द्रोणाचार्य दुर्योधनका यज्ञ कराते और दक्षिणामें पांडवोंके लिए आधा राज्य माँगते हैं। दुर्योधन देनेके लिए इस शर्त पर राजी होता है कि अज्ञातवासी पाण्डव पाँच रातोंके भीतर प्रकट हो जायँ। बालचरितमें कंसको मारने तककी कृष्णके बालपनकी अनेक कथाएँ हैं। यह पाँच अंकोंमें प्रस्तुत नाटक है और इसकी कथाएँ हरिवंश तथा पुराणोंसे ली गई हैं।

स्वप्नवासवदत्ता ६ अंकोंमें समाप्त नाटक है। कथा उसकी ऐतिहासिक है और गुणाढ्यकी बृहत्कथासे ली गई है। कौशाम्बीके वत्सराज उदयनका विवाह उसका मंत्री यौगन्धरायण राजनीतिक अर्थसाधनके लिए मगधराज दर्शककी भगिनी पद्मावतीसे कराता है। इस अर्थ वह झूठ प्रकाशित कर देता है कि उदयनकी पहली पत्नी वासवदत्ता आगमें जलकर मर गई है। वस्तुतः वह छिपे वेशमें उसे पद्मावतीके पास ही रख देता है। नाटकीयता और चरित्रचित्रणकी दृष्टिसे स्वप्नवासवदत्ता सुन्दर कृति है और भासकी रचनाओंमें सर्वश्रेष्ठ। प्रतिज्ञायौगन्धरायण भी नाटक ही है। उसकी कथा स्वप्नवासवदत्ताकी कथासे पहले की है। उसमें उदयन कृत्रिम गजके धोखेसे पकड़कर उज्जैनी ले जाया जाता है पर यौगन्धरायणकी बुद्धिसे अवन्तीके राजा चण्डप्रद्योत महासेनकी कन्या वासवदत्ताको लेकर वत्स भाग आता है। यौगन्धरायण द्वारा उदयनकी मातासे की हुई राजाको बन्धमुक्त कराने वाली प्रतिज्ञा पूरी होती है। हाथीपर उदयन और वासवदत्ताका भागना शुंगकाल (दूसरी सदी ईसवी पूर्व) के मिट्टीके एक ठीकरेपर अंकित है, जो कौशाम्बीमें मिला है। चारुदत्त चार अंकोंमें प्राप्त असमाप्त प्रकरण है जिसमें ब्राह्मण चारुदत्त और वारांगना वसन्तसेनाका प्रेम निरूपित है। शूद्रकका मृच्छकटिक इसी

प्रकरणपर आधारित है। अविमारक ६ अंकोंका नाटक है। उसमें राजकुमारी कुरंगी और राजकुमार विष्णुसेण (अविमारक) का प्रेम और संयोग अंकित है। पिछली चारों कृतियोंकी कथाएँ कथासरित्सागरमें मिलती हैं।

भास कौन था, कहाँका रहने वाला था, कब हुआ—यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। वैदर्भी शैली प्रयोग करनेके कारण उसे कुछ लोगोंने मालवा, कुछने दक्षिणका रहने वाला माना है। साधारणतः उसे कालिदासका पूर्ववर्ती तीसरी सदी ईसवीका माना जाता है, पर वह और पूर्वका भी हो सकता है।

शूद्रकका काल निश्चित करना और भी कठिन है यद्यपि उसका उल्लेख संस्कृत साहित्यमें अनेक स्थलोंपर हुआ है। साधारणतः उसे प्रसिद्ध प्रकरण मृच्छकटिकका रचयिता मानते हैं। कुछ लोगोंने काव्यादर्शमें उद्धृत एक श्लोकके आधारपर दण्डीको ही इस प्रकरणका नाटककार माना है। पर वह श्लोक चूँकि अब हालके मिले भासकी कृतियाँ चारुदत्त और बालचरितमें भी है, स्पष्ट है कि उसका कर्ता कोई और है। मृच्छकटिकका कथानक वही है जो चारुदत्तका है। कालिदासने भास आदिका नाम तो लिया है पर शूद्रकका नहीं यद्यपि यह आवश्यक नहीं था कि वे सबका ही नाम लें। पर उनके इस मौनने निश्चय शूद्रकके समयके संबंधमें सन्देह बढ़ा दिया है। ठीक कहा नहीं जा सकता कि शूद्रक कालिदासके पहलेका था या पीछेका। यदि पहिलेका हो तो उससे थोड़ा ही पहलेका होना चाहिए क्योंकि उसकी कृति भासकी कृतिपर आधारित है। मृच्छकटिकके आरम्भमें उसे राजा और अनेक शास्त्रोंका पण्डित कहा गया है। उसने अश्वमेध किया और एकसौ दस वर्षकी आयुमें पुत्रको राज सौंप चितारोहण किया। उसका नाम कादम्बरी, राजतरंगिणी, कथासरित्सागर और स्कन्द पुराणमें भी मिलता है। कुछ हस्तलिपियोंमें उसे शालिवाहनका मन्त्री कहा गया है जिसने उसे पीछे

प्रतिष्ठानका राजा बना दिया। स्टेन कोनो उसे आभीरराज शिवदत्त मानते हैं। डा० फ्लीटकी रायमें उसीके पुत्र ईश्वरसेनने आन्ध्रोंको हरा कर २४८–४९ ई० का चेदि संवत् चलाया। प्रकरण दस अंकोंमें अद्भुत सफलताके साथ चारुदत्त और वसन्तसेनाका प्रेम प्रकाशित करता है। इस प्रकरणने अनेक नाट्यशास्त्रीय अनुबन्धोंको तोड़ दिया है। यह हास्यरस प्रधान है और उस दृष्टिसे भारतीय नाटकोंमें ग्रीक 'कामेडी'के निकटतम है। इसमें समकालीन समाजका अच्छा रूपायन हुआ है।

कालिदासका समय पाँचवीं सदी ईसवी है। उस महाकविकी रचनाओं-का सविस्तर उल्लेख पृथक् करेंगे। इससे उसके परवर्ती नाटकोंकी चर्चा यहाँ समीचीन होगी। उसके बादके नाटककारोंमें प्रधान हैं विशाखदत्त, हर्ष, महेन्द्रविक्रम, भवभूति, कृष्ण मिश्र। पहले विशाखदत्त।

विशाखदत्तका काल कुछ लोगोंने उसकी रचना 'मुद्राराक्षस' में उल्लिखित चन्द्रग्रहण (१,६) के आधारपर दिसम्बर २,८६ ई० माना है, जब वह ग्रहण लगा था। परन्तु पाटलिपुत्रके वर्णन, बौद्धोंके प्रति निर्देश और नान्दी श्लोक, प्रयुक्त श्लेष (पृथ्वीकी वराह द्वारा रक्षा—उदयगिरिकी गुफामें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके अभिलेखके साथ ही पृथ्वीकी रक्षा करते वराहकी मूर्ति उत्कीर्ण है—चन्द्रगुप्त भी कहींसे मालवाका उद्धार कर वहाँ गया था) आदिसे वह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यके बादका निकटवर्ती ही जान पड़ता है। नाटककी भूमिकामें उसे वटेश्वरदत्तका पौत्र और महाराज पृथुका पुत्र कहा गया है। कुछ आश्चर्य नहीं जो वह चन्द्रगुप्तका कोई सामन्त राजा रहा हो। जो भी हो, प्रस्तुत सामग्रीसे उसका समय निश्चित रूपसे नहीं स्थापित किया जा सकता। उसका मुद्रा-राक्षस सात अंकोंमें समाप्त नाटक है। कथावस्तु उसकी राजनीतिक है। स्पष्ट है कि नाटककार कूटनीतिका आचार्य था। इस प्रकारकी रचनाओंमें मुद्राराक्षस संसारके साहित्यमें बेजोड़ है। उसकी घटनाओंका पहलेसे

अटकल नहीं लगाया जा सकता। षड्यंत्र और कूटनीति जैसे कृतिकारकी उँगलियोंपर नाचते हैं। षड्यंत्रके दाँव-पेंच नन्दोंके मन्त्री राक्षस और चन्द्रगुप्त मौर्यके मंत्री और अर्थशास्त्रके रचयिता चाणक्यके बीच चलते हैं। अन्तमें नन्दोंका विध्वंस कर चाणक्य राक्षसको चन्द्रगुप्तके प्रति अनुरक्त कर लेता है। कालिदास और भवभूतिकी शैली और शालीनता तो विशाखदत्तमें नहीं है पर उसीकी मेधा थी जिसने संस्कृतको इतना अद्भुत राजनीतिक नाटक प्रदान किया।

हर्ष (६०६ ई०–६४७ ई०) थानेश्वर और कन्नौजका राजा था। नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका उसीकी कृतियाँ मानी जाती हैं। बाणभट्टने उसका 'हर्षचरित' नामसे चरित लिखा है। कुछ लोगोंका तो विश्वास है कि हर्ष नामसे प्रसिद्ध नाटकोंका रचयिता भी बाण ही है। पर बाणकी रचनाओं—हर्षचरित और कादम्बरी—और इनकी शैलीमें असाधारण विरोध है। रचनाएँ हर्षकी ही हैं। हर्ष समुद्रगुप्त और भोजकेसे विद्याव्यसनी राजाओंके वर्गका था। वह बौद्ध था और पाँच अङ्कोंमें समाप्त उसका नाटक नागानन्द विद्याधरोंके राजा जीमूतवाहनका सर्पके स्थानपर गरुड़के प्रति आत्मबलिदान निरूपित करता है। रत्नावली चार अङ्ककी नाटिका है जिसमें वत्सराज उदयन और सिंहलकी राजदुहिता रत्नावलीका प्रेम रूपायित है। प्रियदर्शिका भी चार अङ्कोंकी नाटिका ही है। उसका कथानक भी उदयनसे सम्बन्ध रखता है। उसमें राजा दृढवर्मन्‌की कन्या प्रियदर्शिका और उदयनका प्रेम सम्बन्ध निरूपित हुआ है। रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनोंपर कालिदासके मालविकाग्निमित्रका प्रभाव स्पष्ट लक्षित है।

सातवीं सदीके पहले चरणमें महेन्द्रविक्रम वर्माने अपना प्रसिद्ध प्रहसन 'मत्तबिलास' लिखा। वह कांची नरेश सिंहविष्णुवर्माका पुत्र और स्वयं पल्लव नृपति था। 'मत्तविलास' उसका विरुद भी था। उसका प्रहसन प्रहसनोंमें सबसे प्राचीन है। उसके कुछ पात्र संस्कृत भी बोलते हैं

और उसमें कापालिक, पाशुपत, बौद्ध भिक्षुओं आदिकी अच्छी हँसी उड़ाई गई है।

भवभूतिका नाम संस्कृत साहित्यमें बड़े आदरसे लिया जाता है। नाटक-के क्षेत्रमें उसका स्थान कालिदासके बाद ही है। कुछ लोगोंने तो भावों और वर्णनकी शालीनतामें उसे कालिदाससे भी बढ़कर माना है। कल्हणने अपनी राजतरंगिणीमें उसे कन्नौजके राजा यशोवर्मन्का सभा-कवि माना है। यशोवर्मन् ७३६ ई० के लगभग हुआ। गौड़वहोके रचयिता वाक्पतिराज ने भी भवभूतिका उल्लेख किया है। मालतीमाधवके एक श्लोकसे लगता है कि अपने जीवनकालमें उसे आदर नहीं मिला और उसने अपने सम-कालीनोंको चुनौती दी कि 'मेरा यह प्रयत्न तुम्हारे लिए नहीं, उन समान-धर्मा मनीषियोंके लिए है जो भविष्यमें जन्मेंगे, क्योंकि काल और पृथ्वीकी कोई सीमा नहीं। भवभूतिकी आशा फली और आनेवाले संसारने उसकी कृतियोंको सराहा। उसकी भाषा और शैली बड़ी प्रौढ़ और शक्तिमती है, चरित्रचित्रण उसका अपूर्व है। करुणरसका विशेष उद्घाटयिता होता हुआ भी उसने वीर और अद्भुत रसोंके प्रवाहमें अपने महान् पूर्ववर्तियोंको नगण्य कर दिया। उसकी रीति गौड़ी है। संस्कृत साहित्यमें उसकी रचनाएँ अमर हैं।

उसकी तीन रचनाएँ हैं—महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव। इनमेंसे पहली दो सात-सात अंकोंके नाटक हैं और तीसरी रचना मालतीमाधव दस अंकोंका प्रकरण है। महावीरचरित सम्भवतः उसने सबसे पहले लिखा। इसका कथानक रामायणसे लिया गया है और रामका वीर चरित प्रस्तुत करता है। इसमें कविने अनेक नई भावनाओं-का सृजन किया है। उत्तररामचरित उसकी कृतियोंमें सर्वश्रेष्ठ है और संस्कृत साहित्यके अमर रत्नोंमें गिना जाता है। इसमें रामके सीतात्याग और अन्तमें दोनोंके मिलनकी कथा बड़े करुण और शालीन रीतिसे रूपायित

हुई है। मालतीमाधव भवभूतिकी सबसे पीछेकी रचना है। उसमें मालती और माधवकी प्रेम-कथा है।

भट्टनारायण सम्भवतः आठवीं सदी ईसवीका है। उसका ६ अंकोंका नाटक 'वेणीसंहार' महाभारतकी कथापर आश्रित है। भीम उसमें दुःशासनको मारकर द्रोपदीकी वेणी बाँधता है। निरूपण और नाट्य टेकनीकसे पिछले नाट्यकारोंमें भट्टनारायण अद्वितीय है। वीररस प्रकट करनेमें वह विशेष समर्थ है। उसकी कृतिके पहले तीन अंकोंमें बड़ी गतिशीलता है, उत्साह उनका प्रधान भाव है।

मुरारिने अपने सात अंकोंके नाटक अनर्घराघवमें रामकी उत्तरकथा फिर निरूपित की पर भवभूतिकी ऊँचाइयाँ औरोंकी ही भाँति उससे भी परे रह गईं। वह नवीं सदीके आरम्भमें हुआ।

राजशेखर कन्नौजके राजा महेन्द्रपाल (८९३–९०७ ई०) का गुरु और सभाश्रयी था। उसकी 'काव्यमीमांसा' आज भी आलोचना शास्त्रकी 'टेक्स्ट-बुक' बनी हुई है। उसने दो नाटक 'बालरामायण' और 'बालभारत' लिखे, एक सट्टक कर्पूरमंजरी और एक नाटिका विद्धशालभंजिका। इनमें पहला दस अंकोंमें प्रस्तुत रामकथा है। दूसरा, जिसके केवल दो अंक आज उपलब्ध हैं, असमाप्त है। कर्पूरमंजरी चार अंकोंमें प्राकृतमें लिखी है। विद्धशालभंजिका भी चार अंकोंमें है। राजशेखरकी शैली बोझिल और कृत्रिम है।

क्षेमीश्वर दसवीं सदीके आरम्भमें हुआ। उसने कन्नौजके राजा महीपालके लिए पाँच अंकोंमें अपना चंडकौशिक नामका नाटक लिखा। कथानक सत्य-हरिश्चन्द्र और ऋषि विश्वामित्रकी प्रसिद्ध कथा है। नाटक-कारकी शैली कृत्रिम है।

दामोदरमिश्रने अपना हनुमन्नाटक (महानाटक) ग्यारहवीं सदीमें लिखा। उस नाटकके तीन पाठ मिलते हैं। एकमें नौ, दूसरेमें दस और

तीसरेमें चौदह अंक हैं । कथानक, जैसा नामसे प्रकट है, रामायणसे लिया हुआ है । कवि छन्दकारितामें कुशल है ।

कृष्णमिश्र चौदहवीं सदीमें हुआ । उसका प्रबोधचन्द्रोदय छः अंकोंमें प्रस्तुत नाटक है । सम्भवतः यही एक नाटक संस्कृत साहित्यमें है जिसमें शान्तरसका निर्वाह हुआ है । यह लाक्षणिक रूपक है और इसके पात्र विवेक, मनस्, बुद्धि आदि हैं । शैली इसकी सरल है ।

नाटकोंकी यह तालिका प्रमाणतः यहीं समाप्त नहीं होती । पिछले युगमें भी संस्कृतमें नाटक लिखे जाते रहे जो आज भी हमें उपलब्ध हैं, पर कुछ तो स्थानाभावसे कुछ उनकी सामान्यताके कारण हम यहाँ उनको उद्धृत नहीं कर रहे हैं । प्रधान नाटक वही हैं जो ऊपर दिये गये हैं ।

४

कालिदास

कालिदास संस्कृत साहित्यकी श्री और शालीनता है । उसका यश स्वदेशकी सीमाओंको लाँघकर विश्वव्यापी हुआ । वह महाकवि केवल भारतका नहीं संसारका है । उसकी भारती पिछले डेढ़ हज़ार वर्षोंसे साधारण पाठकों, रसिकों और आलोचकोंको समान रूपसे आह्लादित करती रही है । जैसे उसका काव्य बेजोड़ है वैसे ही उसके नाटक भी अनुपम हैं । उसकी रचनाएँ अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र (नाटक), और रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार (काव्य) हैं । कुछ लोग काव्यों और नाटकोंको दो कालिदासोंकी कृतियाँ मानते हैं, पर निःसन्देह ये काव्य और नाटक दोनों ही एक ही हाथके सँवारे हैं ।

कालिदास कहाँ हुए, कब हुए, सभी सन्दिग्ध है। इसकी महानता और लोकप्रियताका परिणाम यह हुआ कि अनेक पिछले कालके संस्कृत कवियोंने भी 'कालिदास' नाम ग्रहण कर लिये जिससे यह कठिनाई और बढ़ गई है। छः छः कालिदासोंके नाम मिलते हैं। परन्तु कठिनाई चाहे जितनी हो एक बात प्रमाणित होते देर नहीं लगती; वह यह कि, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, चारों काव्यों और तीनों नाटकोंके कर्ता एक ही कालिदास हैं। यह कौन है, कब हुआ, इसकी चर्चा उसकी कृतियोंपर विचार करनेसे पूर्व करेंगे। पहले कालिदासका जन्मस्थान।

इस महाकविकी लोकप्रियताके कारण विविध प्रान्तवासियोंने उसे विभिन्न प्रान्तोंका रहनेवाला बताया है। बंगाल, मालवा और कश्मीर तीनोंको महाकविका जन्मस्थान बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसमें बंगालका दावा तो निःसन्देह अकारण है, पर मालवा और कश्मीर दोनोंके प्रति कालिदासने निःसन्देह विशेष आत्मीयता दिखाई है। मेघदूतमें मेघको उत्तर भेजते हुए भी उसने बरबस राह मोड़ उज्जैनीकी ओर भेज दिया है और महाकाल तथा नगरका विमुग्ध वर्णन किया हैं। मेघदूतका प्रवासी यक्ष रहता भी कहीं उधर ही है, यद्यपि प्रकृत निवासी वह कश्मीरका है। परन्तु कश्मीरके प्रति कविकी आत्मीयता मालवासे कहीं अधिक है। कुमार-सम्भवकी सारी कथा और मेघदूतका उत्तर भाग हिमालयसे सम्बन्ध रखते हैं। विक्रमोर्वशीयके चौथे और अभिज्ञान शाकुन्तलके सातवें अंककी भूमि हिमालयमें ही है। इसी प्रकार रघुवंशके पहले, दूसरे और चौथे सर्गोंके अनेकांश हिमालयसे ही सम्बन्धित हैं। उस पर्वतका वर्णन करते कालिदास थकते नहीं। अधिक सम्भव यही है कि कालिदास कश्मीरमें जन्मे थे और किसी कारण उनको अपनी मातृभूमि छोड़नी पड़ी थी। फिर वह लौट पाये या नहीं, कहना कठिन है, यद्यपि मेघदूतके कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों द्वारा उनके स्वदेश लौटनेकी ओर संकेत किया गया है; पर वस्तुतः उनके पिछले दिनों-

में उनकी ख्याति इतनी हुई होगी कि अपने और अन्य प्रान्तोंकी सीमाएँ टूट गई होंगी।

यदि हम कालिदासको चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका समकालीन और उसकी सभाके रत्नोंमेंसे एक मानें तब मालवामें कविके रहनेवाला प्रश्न संदिग्ध नहीं रह जाता। चन्द्रगुप्त द्वितीयकी दूसरी राजधानी, मालवा और सौराष्ट्र गुजरातसे शकोंको निकाल देनेसे, उज्जैनी हो गई थी। फिर तो उज्जैनीमें कालिदासका चन्द्रगुप्तकी सभामें रहना स्वाभाविक हो जाता है। लगता है कि इस प्रकार महाकविके दो प्रिय स्थान थे—जन्मसे कश्मीर और विशेष निवाससे मालवा।

कालिदास आरम्भमें मूर्ख थे और पत्नीके सम्मुख हास्यास्पद होकर अन्यत्र चले गये, फिर कालीके वरदानसे व्युत्पन्न होकर लौटे और काव्यों और नाटकोंकी रचना की—इस प्रकारकी दन्तकथाएँ और जनश्रुतियाँ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। उनपर विचार करना भी अनावश्यक है।

अब कालिदासका काल। इस विषयपर मैंने अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन कालिदास', परिशिष्ट ए में विशेष विस्तारसे विचार किया है। यहाँ हम केवल संक्षेपमें महाकविकी सम्भावित तिथिके प्रमाण प्रस्तुत करेंगे। हम केवल उन प्रमाणोंको लेते हैं जिनका, एकाधको छोड़, कभी उपयोग नहीं किया गया है। ये कालिदासकी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य और कुमारगुप्तके साथ समकालीनता स्थापित कर लेते हैं। नीचेके दो पहले प्रमाण औरोंने भी प्रयुक्त किये हैं।

गुप्त सम्राटोंके अभिलेखों और कालिदासकी भाषामें अमित समानता है। कई बार तो दोनोंमें समान पद तक व्यवहृत हुए हैं। कुछ विद्वानोंने इस दिशामें पर्याप्त परिश्रम करके एकता प्रतिष्ठित कर दी है। डा० एफ़० डब्ल्यू० टामसने उन अनन्त पदोंकी ओर संकेत किया है जो गुप् धातुसे बनते हैं। संभवतः गुप्तोंकी संरक्षताके कारण ये शब्द कविको विशेष

प्रिय हो गये। गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, रसात्मक, कलात्मक स्थितिका कवि द्वारा वर्णित दशासे अद्भुत साम्य है। सिक्कोंकी भाषा सम्बन्धी एक समानता इस प्रकार है। गुप्तोंके सिक्कोंके पद—**समरशत-विततविजयो जितरिपुर् अजितो दिवं जयति, राजाधिराजः पृथिवीं वि-जित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः, क्षितिमवजित्य चुरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः**—कविके **'पुरा सप्तद्वीपं जयति वसुधामप्रतिरथः'** से कितना मिलते हैं? गुप्तोंके सिक्कोंपर बने मयूराश्रयी कार्तिकेय संभवतः उनके कुलदेवता थे। कालिदासने कुमार और स्कन्दका बार-बार उल्लेख किया है और लगता है, कविने सिक्कोंकी मूर्तिको ही अपने पद **'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'** में उतार दिया है।

कविके ग्रन्थोंका जीवन अत्यन्त शान्त और समृद्ध है। वह समृद्धि कला और साहित्यके तद्वत् व्यसन, जनताकी सामाजिक और आर्थिक सम्पन्नता उदारशासित राज्यमें ही सम्भव हो सकते थे। गुप्तोंका शासन प्रायः उसी ओर संकेत करता है।

गुप्त अभिलेखों और चीनी यात्री फ़ाह्यानके भ्रमण-वृत्तान्तसे प्रमाणित गुप्त सम्राटोंकी धार्मिक सहिष्णुता कालिदासके ग्रन्थोंकी भी प्राण-वायु है। जिन पौराणिक आख्यानों और विश्वासोंका कालिदासने इतना उपयोग किया है उनका अभिग्रथन गुप्तकालमें ही हुआ था। हिन्दू प्रतिमाओंकी प्रचुरता कालिदासके ग्रन्थों और गुप्तकालकी समान विशेषता है। गुप्त युगमें (कुषाण) यक्षों और बुद्धकी प्रतिमाएँ अनन्त हैं। कालिदासके ग्रन्थोंमें यक्षोंके उल्लेख भरे पड़े हैं।

कालिदास वात्स्यायनके बाद ही हुआ होगा क्योंकि अपने शृङ्गारिक स्थलोंपर प्रायः आँख मींचकर वह वात्स्यायनके कामसूत्रोंका उपयोग करता है। परम्पराके अनुसार कालिदासको किसी विक्रमादित्यका सम-कालीन होना चाहिए। तीसरी सदीके बाद और स्कन्दगुप्त (अन्य विक्रमा-

दित्य) के पहले हम केवल एक ही विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीयको जानते हैं, जो ४०० ई० के लगभगका है।

कालिदास 'जामित्र' (लग्न) अर्थात् ग्रीक शब्द **'दायामेत्रान्'** को जानते हैं। इस प्रकारके शब्दोंका प्रचलन पहली सदी ईसवीमें हुआ था। इनकी देशमें जानकारी होनेके लिए कुछ समय लगा होगा।

हूणोंको रघु (रघु० सर्ग ४) उनके ही देश वक्षुतीरवर्ती वाल्त्री (वह्लीक) में पराजित करता है। वे वहाँ ४२५ ई० के लगभग बसे थे, जब ईरानी नृपति बहरामगौरसे हारनेपर उनके देश और फ़ारसके बीचकी सीमा वक्षु नदी बना ली गई थी। मेहरौली स्तंभलेखके अनुसार वह्लीककी चन्द्रगुप्त द्वितीयने सचमुच ही विजय की। रघुवंश संभवतः ४२५ के शीघ्र ही बादमें लिखा गया। कविका शायद वह अन्तिम ग्रन्थ था।

यहाँ कुछ भास्कर्यके प्रमाण भी दिये जाते हैं—

कालिदासने शाकुन्तलमें भरतकी सटी उँगलियों (**जालग्रथितांगुलिः करः**) का उल्लेख किया है। सटी उँगलियोंवाली प्रतिमाओंकी संख्या नितान्त न्यून है। जो हैं वे भी केवल गुप्तकालकी हैं। लखनऊ म्युज़ियमके गुप्तकालीन मातकुअर बुद्ध के दोनों हाथोंकी उँगलियाँ 'जालग्रथित' हैं। इस प्रकरकी प्रायः ९ और मूर्तियाँ मुझे लखनऊ संग्रहालयमें मिलीं, जो सभी गुप्तकालकी हैं। कला और साहित्यमें समान कालमें समान अभिप्राय (मोटिफ) ही प्रयुक्त होते रहे हैं।

कालिदासने गंगा-यमुनाकी चमरवाहिनी मूर्तियोंका उल्लेख किया है। कलामें इस प्रकारकी चमरधारिणी गंगा-यमुना-मूर्तियोंका आरम्भ पिछले कुषाण-काल (तीसरी सदी ईसवी) और गुप्तकालके आरम्भमें हुआ। मथुरा और लखनऊके संग्रहालयोंमें उस कालकी ऐसी मूर्तियाँ हैं। समुद्रगुप्तके व्याघ्रलांछित सिक्कोंके पीछे गंगाकी मूर्ति उत्कीर्ण है।

प्राक्कुषाण–मूर्तियोंका 'छत्र' पीछे प्रतिमाओंके 'प्रभामंडल'के रूपमें विकसित हुआ। कुषाण-कालमें वह सर्वथा सादा था, अनुत्कीर्ण। बाद, गुप्तकालमें इसकी भूमि अनेक रूपों और रश्मिवाणोंकी रेखाओंसे भर दी गई। इस विशिष्ट 'मोटिफ' का उल्लेख विकासके अनुकूल ही केवल 'प्रभामण्डल'के स्थानपर कविने 'स्फुरत्प्रभामण्डल' शब्दसे किया है। निश्चय प्रभामण्डलमें अब अन्धकारमें कौंधनेवाली प्रकाशरश्मियोंका स्फुरण होने लगा था।

कालिदासने कुमारसम्भवमें शिवकी समाधिका वर्णन किया है जो कुषाण-कालीन वीरासनासीन बुद्ध-प्रतिमाओंसे मिलता है। कुषाणकालीन ये प्रतिमाएँ कविके सामने थीं।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध हो जायगा कि कालिदास गुप्तकालीन थे। कवि के ग्रंथोंका प्रशान्त जीवन स्कन्दगुप्तके शासन और कुमारगुप्तके अन्तिम दिनोंसे पहले ही समाप्त हो जाता है। तभी पुष्यमित्र और हूणोंकी विपद् साकार हुई थी। इस प्रकार चूँकि पुष्यमित्रोंके साथ युद्ध ४५० ई० में हुआ, कालिदासके जीवनकी निचली सीमा ४४९ ई० होगी।

परन्तु यदि कविने कुमार और स्कन्दगुप्त दोनोंका प्रच्छन्न रूपसे उल्लेख किया है तब संभव है उसने स्कन्दगुप्तका जन्म देखा हो। कविने बहुत लिखा है और निश्चय उसका रचना-काल पर्याप्त लम्बा रहा होगा। यदि वह अस्सी वर्ष तक जिया तो, अगर हम उसकी मृत्यु ४४५ ई० के लगभग मानें तो, उसका जन्म ३६५ ई० के लगभग ठहरता है। संभव है उसका जन्म समुद्रगुप्तके शासनकालमें हुआ हो और उसने चन्द्रगुप्त द्वितीयका समूचा शासन-काल और कुमारगुप्तके शासनकालका अधिकतर भाग देखा हो। उसने उस दशामें स्कन्दगुप्तका जन्म भी देखा होगा क्योंकि पुष्यमित्रोंको हराते समय ४५० ई०में स्कन्द कमसे कम २० वर्ष-का अवश्य रहा होगा। यदि कविने अपना रचना-काल अपने पचीसवें वर्ष में आरम्भ किया तब ऋतुसंहारकी रचना ३९० ई०में शुरू हो गई होगी।

और तब उसका सृजनात्मक काल उस पूरे युगका समानवर्ती रहा होगा जिसे भारतीय इतिहासका स्वर्ण-युग कहते हैं।

कालिदास स्वयं अपनी नाट्यशक्तिके कायल हैं जिससे उन्होंने 'पुराणमित्येव न साधु सर्व'' (मालवि० १, २) द्वारा पुराणपंथियों पर गहरी चोट की है। जहाँ वाल्मीकिके प्रति उनकी अतीव श्रद्धा (रघु० १, ४) है वहाँ भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदिके लिए उनमें छिपी चुनौती (मालवि० पृ० २) भी है। भासके नाटक साफ़-सुथरे और खेलने योग्य निश्चय हैं पर कालिदासकी चुनौती भी रिक्त नहीं क्योंकि उनके नाटक भासके नाटकोंसे कहीं सुन्दर उतरते हैं। उनकी यह चुनौती उन प्राश्निकों (जजों) के प्रति भी है जिनका काम नये नाटकोंका मूल्यांकन करना था और जिनका उल्लेख मालविकाग्निमित्रमें हुआ है।

संस्कारपूत संस्कृत वाणीके साथ नाटकोंमें प्रयुक्त होनेवाली प्राकृतोंकी भी कालिदासने 'सुखग्राह्यनिवन्ध' (कुमार० ७, ९०) कहकर सराहा है। प्रकट है कि कालिदासका रंगमंच भरा पुरा था और नाट्यशाला (संगीत-शाला) में भीड़ खासी रहती थी। नाटक विवाह, वसन्त आदिके अवसरों-पर खेले जाते थे। मालविकाग्निमित्र वसन्तोत्सवके समय पहले पहल खेला गया था। कालिदासने नाटककी अतीव सुन्दर व्याख्या की है जिसमें सिद्धान्तका सुन्दर निरूपण हुआ है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥ (मा० १, ४)

इस संबंधमें हमें पूरी सामग्री तो नहीं मिलती परन्तु स्वयं कालिदासने नाटकसंबंधी कुछ निर्देश दिये हैं जिनसे उस दिशामें प्रकाश पड़ता है। 'प्रेक्षागृह' (मा० पृ० २१) सम्भवतः दर्शकोंकी भूमि (पिट) था, यद्यपि

तारानाथने इसके स्थानपर 'वर्णप्रेक्षा' पाठ मानकर इसका अर्थ अभिनेताओंके मुस्ताने या रंगादि करनेका कमरा (ग्रीन-रूम) किया है।

रंगमंचकी व्यवस्थाका भी कालिदासके नाटकोंसे कुछ पता चलता है। 'नेपथ्यपरिगता'से पर्दाका संकेत मिलता है। तिरस्करिणी शब्दका व्यवहार पर्देके अर्थमें हुआ है। 'संहर्तुम्'से एकसे अधिक, और लपेटे जाने वाले, पर्दोंका निर्देश स्पष्ट है। **'प्रविशति आसनस्थो राजा'** निर्देश तभी सार्थक होगा जब पर्देके पीछे राजा पहलेसे ही आ बैठता हो और पर्दा उठाने पर **'आसनस्थ'** दिखाया जा सके।

रंगमंचके योग्य विविध वस्त्रोंका भी प्रबन्ध रहता था जो पात्रके अनुसार बदलते रहते थे। परिव्राजिका, अभिसारिका, आखेट, यवनी, मानिनी, विरहिणी, राजा, प्रतीहार आदि सभीके अपने अपने वेश थे और उनके लिए अपने अपने वस्त्र। ऐसे रंगमंचपर कालिदासके नाटक खेले गये।

वे नाटक थे अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र। अभिज्ञान शाकुन्तलकी देशी-विदेशी विद्वानों और रंगमंचके विशेषज्ञोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गेटे उस नाटकमें सर्वस्व पा गया था। काव्यकी उसमें अद्भुत छटा है, प्रकृतिसे अविकल साहचर्य। भाषाकी सादगी, भावोंकी कोमलता, चित्रणकी अभिरामता, कारुण्यका अंकन सभी अपनी पराकाष्ठापर है। सात अंकोंका नाटक है। कथानक महाभारतसे लिया गया है पर महाभारतका लम्पट नायक धर्मासनका कुशल अधिष्ठाता बन जाता है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तलाका प्रणय-वर्णन है। शकुन्तलाका अपनी साथिनों, लताद्रुमों, मृगादिकोंसे अद्भुत स्नेह है। नाटककी चार प्रकारकी हस्तलिपियाँ हैं—६ बँगला, देवनागरी, कश्मीरी और दाक्षिणात्य। बँगला वाली प्रतिमें औरोंसे २०—२५ श्लोक अधिक हैं।

विक्रमोर्वशीय पाँच अंकोंका त्रोटक है। मूल कथा ऋग्वेद (१०, ९५) में है, वैसे महाभारतमें भी मिलती है। पुरुरवा और उर्वशीके प्रेम और

विरहकी इसमें कथा है। इसकी नियामक शक्ति प्रारब्ध है। प्लाट इसका खासा गँठा हुआ है। इसमें अपभ्रंश श्लोकोंका भी उपयोग हुआ है जिससे उस अंकको कुछ लोग प्रक्षिप्त मानते हैं। इसकी हस्तलिपियाँ दो प्रकारकी है, दाक्षिणात्य और उत्तरी।

मालविकाग्निमित्रमें न तो अभिज्ञानशाकुन्तलकी शालीनता है न विक्रमोर्वशीयकी घटनाओंका-सा स्वाभाविक प्रवाह। परन्तु ऐतिहासिक होनेसे इसका बड़ा महत्त्व है। इसमें शुंग सम्राट् पुष्यमित्रके पुत्र अग्निमित्र और विदर्भ-राजकुमारी मालविकाके प्रणयका वर्णन है। यह कालिदासका पहला नाटक है।

भास

महाकवि भास संस्कृतके उन महाकवियोंमेंसे हैं जिनकी संस्कृत साहित्यपर गहरी छाप पड़ी है। साहित्यमें बार-बार उस नाटककारका स्मरण हुआ है और वह स्मरण असाधारण आदरका द्योतक है। स्वयं कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्रमें उसे 'प्रथितयशस्' लिखकर सराहा है। पर निःसन्देह साहित्यमें उस ख्यातनामा भासका नाम मात्र उपलब्ध था या उसके नाटकोंके कुछ श्लोक या स्थल यत्र तत्र उद्धृत मिल जाते थे, उसकी कोई समस्त रचना इस शताब्दीके पहले प्रकाशित नहीं हुई थी।

सन् १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्रीको अचानक भासके तेरह नाटक मिल गये जिनको उन्होंने 'त्रिवेन्द्रम् सीरिज़' में पहली बार प्रकाशित किया। इनकी वास्तविकता अथवा इनके भासके लिखे होनेमें विद्वानोंने सन्देह किया, पर उस सम्बन्धकी चर्चा यथास्थान की जायगी। यहाँ पहले भासके प्रति साहित्यगत निर्देशका उल्लेख करेंगे।

भास भी अनेक संस्कृत कवियोंकी ही भाँति कुछ ऐसा नहीं छोड़ गये, या छोड़ा भी तो वह आज हमें उपलब्ध नहीं, जिससे हम उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध, जन्म, जीवन, काल, स्थान आदिके सम्बन्धमें जान सकते। परन्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उस कविके नामसे संस्कृत साहित्य न केवल परिचित था वरन् उसपर उसकी शालीनताकी गहरी छाप थी। अनेक बार अनेकधा महाकवियोंने, अलंकार-शास्त्रियों और सुभाषितोंने, उसके नाम या रचनाओं और उनके स्थलोंका उल्लेख किया है या उद्धरण दिये हैं। उसके प्रति निर्देश करनेवालोंमें जाने हुए निम्नलिखित हैं—कालिदास, भामह, बाणभट्ट, दण्डी, वामन, वाक्पतिराज, अभिनवगुप्त, भोजदेव,

राजशेखर, शारदातनय, सर्वानन्द, सागरनन्दी, रामचन्द्र और गुणचन्द्र, कौमुदीमहोत्सव और शाकुन्तलव्याख्या।

इनमें-से कुछके स्थल यहाँ उद्धृत कर देना अनुचित न होगा—

प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य—

—कालिदास, मालविकाग्निमित्र, अंक १।

प्रतिज्ञायौगन्धरायणके 'अणेण मा भादा हदो, अणेण मम पिदा, अणेण मम सुदो' का काव्यालंकार, ४, ४०–४७ में श्लोकबद्ध उद्धरण—

हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसः ॥४४॥

—भामह।

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

—हर्षचरित।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

—दण्डी, काव्यादर्श, २, २२६ (बालचरित, चारुदत्तसे)।

'यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्'

—प्रतिज्ञा० से वामन, काव्यालंकार, ५, २।

यासां बलिर्भवति मद्गृहदेहलीनां
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः।
तास्वेव पूर्वबलिरूढयवाङ्कुरासु
बीजाञ्जलिः पतति कीटमुखावलीढः ॥
शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
कारापुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम ॥

—वही, ४, ३, (स्वप्नवासवदत्तासे)।

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

—सूक्तिमुक्तावलीमें उद्धृत राजशेखर ।

भासम्मि जलणमित्ते कन्ती देवे अजस्स रहुआरे ।
सोबन्धवे अबन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो ॥

—गउडवहो (वैदग्ध्यवर्णनम्) ।

"क्वचित् क्रीडा यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्"

—अभिनवभारती, गायकवाड़ ओ० सी० ।

तत एव विक्रमोर्वशीयस्वप्नवासवदत्ता (त्ते) नाटकमिति व्यवहरन्ति ।

—वही ५, १७ ।

महाकविना भासेनापि स्वप्नप्रबन्ध उक्तः—

त्रेतायुगं तद्धि न मैथिली सा
रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेतः ।
लब्ध्वा जनस्य यदि रावणमस्य कायं
प्रोत्कृत्य तन्न तिलशो न वितृप्तिगामी ॥

—वही पृ० ३२० ।

स्वप्नवासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः । पद्मावतीरहितं च तदवलोक्य तस्या एव शयने सुष्वाप । वासवदत्तां च स्वप्नवदस्वप्ने ददर्श । स्वप्नायमानश्च वासवदत्तामाबभाषे । स्वप्नशब्देन चेह स्वापो वः स्वप्नदर्शनं वा स्वप्नायितं वा विवक्षितम् ।

—भोजदेव, शृंगारप्रकाश ।

शौनकमिव बन्धुमती कुमारमविमारकं कुरङ्गीव ।
अर्हति कीर्तिमतीयं कान्तं कल्याणवर्माणम् ॥

—कौमुदीमहोत्सव, २, १५, ५, ९ ।

चारुदत्ते पुनः सूत्रधारस्यापि प्राकृतम्

—शाकुन्तलव्याख्या ।

भासके एक श्लोक—नवं शरावं—का उल्लेख कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी मिलता है, पर लगता है कि वह श्लोक दोनोंने अन्यत्रसे, किसी पूर्ववर्त्ती साहित्यसे लिया है। ऐसा न माननेसे एक दिक़्क़त यह हो जायगी कि भासको तब कौटिल्यसे भी पूर्व प्रायः ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें रखना पड़ेगा जो अन्य कई विरोधी प्रमाणोंके कारण सम्भव नहीं। उसका समय अश्वघोषके पश्चात् और कालिदासके पूर्व प्रायः दूसरी-तीसरी सदी ईसवीमें होना चाहिए।

भासका नाम संस्कृत साहित्यके प्रेमियों और विद्वानोंमें इतना जाना हुआ होनेके कारण उसकी कृतियोंको पानेकी भूख सभीको थी और जैसे ही महामहोपाध्याय गणपति शास्त्रीने इन तेरह नाटकोंकी सम्प्राप्तिकी सूचना दी, पण्डितोंने झट उन्हें भासकी कृति मानकर स्वीकार कर लिया। पर जैसे ही प्रारम्भिक उत्साह कम हुआ और आलोचनाकी पैनी आँखोंसे नाटक देखे-विचारे जाने लगे वैसे ही शंकाएँ बढ़ीं और झट विद्वानोंमें इस प्रसंगपर परस्परविरोधी दो दल बन गये। एक दल उनका था जो सर्वथा इन कृतियोंको भासकी रचनाएँ मानने लगे, जैसे गणपति शास्त्री, डाक्टर कीथ आदि, दूसरे उनका जिन्होंने उन्हें भासकी रचना माननेमें आपत्ति की, जैसे सिल्वाँ लवी, विन्टर्निस्स, मोर्गेनस्तेर्ने, सुक्थंकर आदि। एक तीसरा वर्ग ऐसे विद्वानोंका भी निकल आया जिसने इन्हें भासकी रचनाएँ आंशिक रूपमें ही माना।

अभाग्यवश इन नाटकोंके प्रवेशकमें अथवा हस्तलिपिके ही किसी भागमें भासका नाम लिखा नही मिला जो विशेष अस्वीकृतिका कारण बन गया। इनको भासकी कृति माननेवालोंने साधारणतः नीचे लिखा तर्क प्रस्तुत किया—

(१) इन सभी नाटकोंका आरम्भ 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति' निर्देशसे होता है। इसके विरुद्ध पीछेके "क्लासिकल" नाटकोंमें पहले 'नान्दी' श्लोक होता है फिर 'नान्द्यते' आदि निर्देश। कहते हैं कि भासकी इसी विशि-

ष्टताका उल्लेख—कि उसके नाटक सूत्रधारके प्रवेशसे आरम्भ होते हैं—बाणने अपने इस श्लोकमें किया है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरपि ॥

(२) भूमिका भागको सर्वत्र इनमें 'स्थापना' कहा गया है। 'क्लासिकल' नाटकोंमें इसके विरुद्ध भूमिकाके लिए 'प्रस्तावना' शब्दका प्रयोग हुआ है।

(३) क्लासिकल नाटकोंके विपरीत इनकी 'स्थापना' में नाटक या नाटककारका नाम नहीं मिलता जिससे यह विचार उठा कि शायद ये नाटक क्लासिकल नाटकोंसे पूर्वके हैं।

(४) भरतवाक्यका सर्वत्र इसी आशीर्वचनसे अन्त होता है कि हमारे नृपति अखिल पृथ्वीपर शासन करें।

(५) इन नाटकोंमें परस्पर वस्तु-गठनमें समानता है और अनेक प्रारम्भिक श्लोकोंमें मुद्रालंकारके अनुसार प्रधान पात्रोंके नाम गिना दिये गये हैं जो 'क्लासिकल' परिपाटीसे भिन्न शैली है। अधिकतर इनकी वर्णन-शैली भी समान है।

(६) इनमेंसे कमसे कम एक (स्वप्नवासवदत्ता) कृतिको राजशेखरने भासका माना है। इससे इस संग्रहकी रचनाएँ भी, जो शैली, रंगानुशासन, भाषा, भावादिमें परस्पर समान हैं, उसी कविकी होंगी।

(७) अनेक अलंकारशास्त्रियोंने अपने ग्रन्थोंमें इन कृतियोंसे उद्धरण दिये हैं, जो इस संग्रहमें है। उदाहरणार्थ वामनने स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और चारुदत्तसे उद्धरण दिये हैं, भामहने भी प्रतिकारार्थमें प्रतिज्ञायौगन्धरायणके स्थलको चुना है, दण्डीने बालचरित्र और चारुदत्तके 'लिम्पतीव' आदिक श्लोकका उल्लेख किया है, इसी प्रकार अभिवनगुप्तने अपनी 'नाटयवेदवृत्ति' में स्वप्नवासवदत्ताका उल्लेख किया है,

यद्यपि अपने 'ध्वन्यालोकालोचन' में उसने स्वप्नवासवदत्ताके जिस श्लोकका उल्लेख किया है वह प्रस्तुत संग्रहमें नहीं है। इन प्रमाणोंके अतिरिक्त छन्दोंका प्रयोग भी इनका, क्लासिकलके विपरीत, अपना है। अधिकतर इनमें वीर श्लोकका व्यवहार हुआ है। साथ ही पाणिनीय व्याकरणके अनुबन्धोंकी अवमानना और प्राकृतोंका इनका असाधारण व्यवहार भी इन्हें क्लासिकल नाटकोंसे पूर्वकी कृतियाँ सिद्ध करते हैं। डा० मैक्स लिन्देनोंने इस दिशामें काफ़ी प्रकाश डाला है। इनकी प्राचीनता घोषित करते हुए उन्होंने भरतके 'नाट्यशास्त्र' के प्रति इनकी अवमाननाकी ओर भी संकेत किया है।

इन प्रमाणोंके विरुद्ध गणपति शास्त्रीके इस संग्रहकी कृतियोंको भासकी रचना न माननेवाले वर्णन भी अपना पर्याप्त प्रबल तर्क प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है। उसका कहना है कि नाटकोंमें नाम रचयिताका इस कारण नहीं दिया गया कि इनके लिखनेवाले साहित्यिक चोर थे जिससे जान-बूझकर उन्होंने नाटककारके नाम नहीं दिये। सूत्रधार सम्बन्धी वाणके श्लोकके विषयमें उसका कहना है कि वह किसी विशेषताकी ओर संकेत नहीं करता और उस निर्दोष साधारण कथनसे यह विशेष अर्थ निकालना अनुचित है क्योंकि क्लासिकल नाटकोंको भी 'सूत्रधारकृतारम्भ' कहनेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः यह रंगानुशासन दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियोंकी विशेषता है न कि क्लासिकल नाटकोंसे पूर्वका होनेका प्रमाण।

राम पिशारोटीने पहले वर्गके प्रमाणोंके विरुद्ध एक अत्यन्त मनोरंजक स्थितिकी ओर संकेत किया। उन्होंने बताया कि ये नाटक केरलके परम्परायिक अभिनेताओंके संकलन हैं। इन अभिनेताओं (चक्यारों) की परम्परा यह है कि ये कभी समूचा नाटक नहीं खेलते, बल्कि कभी वे एक नाटकसे दृश्य चुन लेते हैं कभी दूसरेसे, और अपने प्रत्येक खेलके लिए उनका समान परिचय होता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि इनको

प्रस्तावनाएँ बादमें लिखी गईं और प्रधान दृश्य मूलवत् या घटा बढ़ाकर आवश्यकताके अनुकूल कर लिये गये, जिससे समान रूपसे सम्पादित होनेके कारण उनमें शैली, भाषा, वस्तु-गठन, रंग-निर्देश आदिकी परस्पर समानता बनी रही। अलंकारशास्त्रियोंके उद्धरण भी अनेक बार सर्वथा इन रचनाओंमें या उनके प्रासंगिक स्थलोंसे नहीं मिलते। फिर यह भी सम्भव है कि प्राकृतोंकी शैली कालिक विकाससे इतना सम्बन्ध न रखती हो जितना स्थानीय विभिन्नतासे, जिस कारण वह क्लासिकल नाटकोंकी प्राकृतोंसे भिन्न हो सकती है, कुछ पूर्वकालिक होनेसे नहीं। प्रोफ़ेसर विन्टरनित्स इन कारणोंसे इन रचनाओंको भासका नहीं मानते।

डा० कीथको भास सम्बन्धी यह दृष्टिकोण मान्य नहीं। वे इन नाटकोंको भासकी ही कृतियाँ मानते हैं। उनका कहना है कि इस प्रश्नका इतना महत्त्व नहीं कि वे कृतियाँ भासकी हैं या नहीं? उत्तर इस बातका चाहिए कि ये सारी रचनाएँ एक ही व्यक्तिकी हैं या नहीं? और इसका कि वह व्यक्ति मृच्छकटिक और कालिदासका पूर्ववर्ती है या नहीं? 'मृच्छकटिक' का इसलिए कि शूद्रककी यह कृति भासके 'चारुदत्त'का ही सम्भवतः बृहत्तर संस्करण है। और ये दोनों ही प्रश्न प्रायः अनुकूलार्थमें प्रतिपादित होते हैं। इन नाटकोंको भासके माननेके विरोधी स्वयं मोर्गेन्स्टेर्नेने यह स्वीकार किया है कि 'चारुदत्त' 'मृच्छकटिक' का पूर्ववर्ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं कालिदासके वक्तव्य—**प्रथितयशसां भास-सौमिल्लकविपुत्रादीनां**—के अतिरिक्त यूरोपीय पण्डितों—मैक्स लिन्देनो, नोबल आदि—के संस्करण समीक्षणोंसे यह प्रमाणित है कि भास सम्बन्धी इन कृतियोंके प्राकृत अश्वघोष और कालिदासके बीच कालकी है और कि 'चारुदत्त' निश्चय 'मृच्छकटिक' से पुराना है (नोबल)।

यह सही है कि कुछ उद्धरण गणपति शास्त्रीवाले संस्करणसे सर्वतः नहीं मिलता पर आखिर पाठभेद भी तो होते हैं। स्वयं कालिदासकी कृतियोंमें परस्पर संस्करण भेदसे इतने पाठभेद हैं कि अनेक बार तो वर्षों उनपर

तर्क-वितर्क हुए हैं। रघुवंशके **'वंक्षुतीरविचेष्टनैः'** वाले पाठमें तो इतना अन्तर पड़ा है कि पंजाब और वाह्लीक (बाख्त्री, आमू तीरकी भूमि) एक हो गये हैं और यह दोष मल्लिनाथ के-से असाधारण समीक्षकसे बन पड़ा है। (देखिए मेरी 'इण्डिया इन कालिदास' पृ० २०–२२)। भास वस्तुतः इतना लोकप्रिय था कि उसके संस्करणोंकी सीमा न रही हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। इसी कारण पाठभेद हुए होंगे और अलंकारशास्त्रियों और सुभाषितादिकोंके उद्धरणोंकी असमानता इसी कारण है। इस बातको न भूलना चाहिए कि ऐसे श्लोक या स्थल जो गणपति शास्त्रीवाले संस्करण में नहीं है वे भी भाषा शैली और ध्वनियोंमें इस संस्करणकी भाषा आदिसे सर्वथा समान हैं।

इस स्वीकृतिके अनुकूल ही एक प्रमाण स्वयं कालिदासके 'मालविकाग्निमित्र'में है जिसकी ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं गया है। उस नाटकमें (पृ० १७, कालेका संस्करण) 'प्राश्निक' शब्दका व्यवहार हुआ है। प्राश्निक रंगके विशेषज्ञ थे और उनका काम था कि प्रारम्भिक खेलको देखकर राजासे उसकी स्तुति या निन्दामें अपना निर्णय दें। भरतने भी अपने नाट्यशास्त्रमें इन राज-विशेषज्ञों—प्राश्निकों—का वर्णन किया है। कालिदासकी अपनी पहली नाट्यकृति—मालविकाग्निमित्र—के सम्बन्धमें शंका निश्चय रही होगी जो उनके वक्तव्य—ख्यातिलब्ध भास, सौमिल्ल और कविपुत्रके प्रबन्धों (नाटकों) को छोड़ (लाँघकर, निरादृतकर) नये नाटकको खेलना कहाँ तक उचित है ?—से स्पष्ट है। परन्तु उन प्राश्निकोंने 'मालविकाग्निमित्र'को प्रमाणतः पास कर दिया। इसी प्रसंगमें (प्राश्निकोंके) भासका नाम लेना विशेष अर्थ रखता है। राजशेखरने 'स्वप्नवासवदत्ता' की विशेष प्रशंसा की है। वह नाटक (नाटक, शब्दका प्रयोग साधारण अर्थमें कर रहा हूँ), लगता है, 'प्राश्निक'-पद्धतिसे 'पास' हो चुका था और इसीसे विशेषतः राजशेखर (ल० ९०० ई०) आदिकी स्तुतिका विषय बना था, इसीसे सम्भवतः कालिदासने उस

प्रसंगमें भासका नाम लिया। अस्तु, उपलब्ध 'स्वप्नवासवदत्ता' को ही भासका प्रसिद्ध नाटक मानना चाहिए। हाँ, उसकी सर्वथा मूल स्थितिमें सदियोंके व्यवहारने यदि पाठ भेदकर अन्तर कर डाला हो तो कुछ अजब नहीं, स्वाभाविक ही है।

यह भी जब तब कहा जाता है कि सम्भव है एक ही बड़े नाटकके दोनों प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता, पूर्व और पर भाग हों। सही, प्रतिज्ञायौगन्धरायणमें स्वप्नवासवदत्ताके पहलेकी घटना दी हुई है (उसमें छद्मगजके धोखेसे वत्सराज उदयन अवन्तीनरेश प्रद्योतका बन्दी हो जाता है और मन्त्रिवर यौगन्धरायणके प्रणके अनुकूल प्रद्योत-कन्या वासवदत्ताको कौशाम्बी ले भागता है। स्वप्नवासवदत्तामें उसके बाद मगधराज दर्शककी भगिनी पद्मावतीसे उदयनके विवाहकी कथा है और वह विवाह वासवदत्ताके जल मरनेके भ्रममें सपन्न होता है), पर इसी कारण यह अनिवार्य तर्क नहीं हो सकता कि दोनों कृतियाँ एकके ही योग हों। उदयनकी कथा साहित्यमें इतनी प्रसिद्ध और लोकप्रिय थी कि उस प्रसंगकी अनेक रचनाएँ जानी हुई है। आजके युगमें भी एक ही साहित्यकारने दो-दो बार उदयनपर लिखा है। स्वयं इन पंक्तियोंके लेखकने अनेक बार वत्सराजके प्रसंगपर कहानी, निबन्ध आदि लिखे हैं। इससे यह माननेमें कोई दोष नहीं कि स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण दोनों स्वतन्त्र कृतियाँ हैं और दोनों ही महाकवि भासकी हैं।

भासके ये गणपति शास्त्रीवाले तेरह नाटक निम्नलिखित हैं—१—स्वप्नवासवदत्ता, २—प्रतिज्ञायौगन्धरायण, ३—अविमारक, ४—चारुदत्त, ५—प्रतिमा, ६—अभिषेक, ७—पंचरात्र, ८—दूतवाक्य, ९—मध्यमव्यायोग, १०—दूतघटोत्कच, ११—कर्णभार, १२—ऊरुभंग और १३—बालचरित्र।

इनमेंसे पहले चारकी कथाएँ सम्भवतः 'बृहत्कथा' से ली गई हैं, यद्यपि प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ताकी कथा अत्यन्त लोकप्रिय रही होगी। चारुदत्तकी तो थी ही जिससे छोटे नाटकसे तृप्त न होकर पर-

वर्ती शूद्रकने उसीके आधारपर, उसीके नायक-नायिका पात्र-कथा लेकर मृच्छकटिकका बड़ा नाटक लिखा। ५ और ६ की कथा रामायणसे ली गई है। ७ से १२ की महाभारतसे और १३ की कृष्णचरित सम्बन्धी किसी पुराणसे।

स्पष्ट है कि सफल कलावन्त भासने रामायण, महाभारत, पुराण और लोकप्रचलित प्रसंगोंको और अधिक लोकप्रिय करनेके लिए उन्हें रंगमंच-पर उतार दिया। इनमें स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और चारुदत्त मुझे बहुत प्रिय हैं। अविमारक अलौकिक होनेके कारण इतना आकृष्ट नहीं करता। रामायण और महाभारतकी कथाएँ अधिकतर जानी हुई हैं।

बौद्ध-चीनी दन्तकथाएँ   : ९ :

बौद्धों और चीनियों दोनोंकी अपनी-अपनी गाथाएँ, अपने-अपने पुराण और अपनी-अपनी दन्तकथाएँ हैं। पौराणिक कथाओंमें ज़्यादातर ऐसी घटनाओंका बयान होता है जिनमें संसारकी सृष्टि और स्वर्ग तथा उसके देवताओंका ज़िक्र होता है। ऐसी कथाओंमें अनेक बार देवता स्वर्गसे उतरकर आदमियोंसे मिलते-जुलते हैं और उनके दुःख-सुखमें शरीक होते हैं। अनेक बार तो आदमी खुद इतना महान् हो जाता है कि स्वयं देवता ही स्वर्गसे उतरकर उसके इर्द-गिर्द फिरने लगते हैं और अनुचरोंकी तरह उनकी सेवा करने लगते हैं। गौतम बुद्ध इसी तरहके एक व्यक्ति थे जो आदमी होकर भी देवताओंसे बढ़ गये और बौद्ध कथाओंमें स्वयं देवता उनकी पूजा करने लग गये।

दन्तकथाओंमें ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनके बयानमें देवता और मनुष्य, राक्षस और पशु सभी मिल-जुलकर कहानी बनाते हैं। ये दन्तकथाएँ लोककथाओंका रूप धारण कर लेती हैं और इन्सानका हिया फैलकर अपने भीतर जानवरों तकको समेट लेता है। अनेक चीनी कथाओंमें इस प्रकार के जीवनका बयान आज भी सुरक्षित है।

पहले हम बौद्ध पौराणिक कथाओंकी बात कहेंगे फिर चीनी दन्त-कथाओंकी। मामूली तौरपर हिन्दू और बौद्ध-पौराणिक कथाओंमें कोई खास फ़र्क नहीं है। बौद्धोंने हिन्दुओंके समूचे देवी-देवता अपना लिये, भेद बस इतना रहा कि जहाँ हिन्दुओंके देवता अपनी जगहपर खुदमुख़्तार और महान् रहे वहाँ बौद्ध कथाओंमें जाकर वे भगवान् बुद्धके परिचर और सेवक हो गये। उनकी पूजा करना ही और उनके महान् कार्योंके

सामने सिर झूकाना ही उनका काम हो गया। देवराज इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, यक्षराज कुबेर आदि सभी बुद्धके सेवक बने और सब जगह उनकी मूर्तियाँ बुद्धकी सेवा करती हुई बनाई गईं।

बुद्धके जीवनसे सम्बन्ध रखने वाली अनेक घटनाओंका कुछ ऐसा चमत्कारी और जादूभरा बयान मिलता है कि घटनाएँ अलौकिक बन जाती हैं। बुद्धकी जन्मभूमि कपिलवस्तुके बसनेके पहले कपिल मुनिका आसमानमें जाकर घड़ेके जलसे नगरकी सीमा बनाना, शाक्योंकी उस राजधानीके सम्बन्धमें एक पुराण ही है जिसका ज़िक्र आजसे दो हज़ार साल पहले महाकवि अश्वघोषने अपने 'बुद्धचरित' में किया। इसी प्रकार बौद्ध कथाओंमें लिखा है कि गौतमकी माताने उनके जन्मसे पहले सपना देखा कि एक सफ़ेद हाथी उनकी कोखमें प्रवेश कर रहा है। इस कहानीको इतना महत्त्व दिया गया है कि बौद्धोंकी कलामें अनेक जगह सोई हुई रानीके शरीरमें प्रवेश करते सफ़ेद हाथीकी मूर्ति बनाई गई है। लुम्बिनीके जंगलमें शाल पेड़की डाली पकड़े खड़ी मायाकी कमरसे गौतमका पैदा होना, पैदा होते ही उनका सात क़दम चलना और क़दम-क़दम पर कमलके फूलका उगकर उनके चरणोंको अपने ऊपर लेना, और इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओंका झट नये जन्मे बालकको आकर उठा लेना पौराणिक विश्वासकी ओर ही इशारा करता है। इसी प्रकार बुद्धका तावतिंश नामक स्वर्गको आना-जाना और वहाँ अपनी माता मायाको बौद्ध धर्मका उपदेश देना, श्रावस्तीमें अपने रूपको हज़ार जगह उत्पन्न कर देना, कामदेवका प्रलोभन और अपनी सेनासे बुद्धपर हमला या बार-बार देवताओंका बुद्धकी वन्दना करना उसी पुराणके अंग हैं जिनका निर्माण सभी मज़हबोंने किया है और जो आम जनताके विश्वास या अंधविश्वासकी चीज़ बन गये हैं। पर इनसे भी महत्त्वके बौद्ध पुराण, बुद्धके जन्मकी वे कथाएँ हैं जो जातक कहलाती हैं और जिनकी संख्या क़रीब साढ़े पाँच सौ है। ये कथाएँ स्वयं बुद्धके ही मुँहमें रखी गई हैं

और उन्होंने ही कहानीके रूपमें उनको कहा है। जातक कथाओंका कहना है कि भगवान् बुद्ध गौतम बुद्धके रूपमें प्रकट होनेके पहले क़रीब ५५० बार जन्म लेकर संसारकी सेवा कर चुके थे। इन जातक कथाओंमें, जो बौद्ध धर्मके वास्तविक पुराण हैं, उनको कभी हाथी, कभी बन्दर, कभी हिरन आदिके रूपमें पैदा होकर अपने त्याग, परोपकार और बलिदानसे दुनियाका कल्याण करना बताया गया है। मिसालके लिए नीचे हम उन्हीं कथाओंमेंसे एकका बयान देते हैं। उसका नाम "रोहन्तमिग" जातक है। इसमें दिखाया यह गया है कि किस तरह चित्त-मृगने आफ़तमें भी अपने बड़े भाई सोन-मृगका साथ न छोड़ा, किस तरह जानवर तक कभी-कभी इन्सानसे बढ़कर इंसानियतका काम करता है। कहानी इस प्रकार है—

शास्ता (बुद्ध) ने कहा—"पहले जमानेमें बनारसमें ब्रह्मदत्त राज करता था। उसकी पटरानीका नाम खेमा था। उस समय बुद्ध हिमालयमें मृग होकर पैदा हुए। रंग उनका अत्यन्त सुन्दर था, बिलकुल सोने जैसा, जिससे उनका नाम ही सोन-मृग पड़ गया था। सोन-मृगका छोटा भाई चित-मृग भी उसीका-सा सुनहरे रंगका था और उसी रंगकी उसकी एक छोटी बहिन थी जिसका नाम सुतना था। सोन-मृग मृगोंका राजा था, नाम उसका रोहंत था। वह रोहंत हिमालय पर्वतमालाकी दो मालाएँ लाँघकर तीसरीमें अपने नामके ही रोहंत तालाबके पास अस्सी हज़ार मृगोंका राजा बनकर रहता था और अपने बूढ़े और अंधे माता-पिताकी सेवा करता था। बनारससे थोड़ी ही दूरपर निषादोंका एक छोटा-सा गाँव था जहाँके एक निषादके बेटेने हिमालयके उस रोहंत मृगको देख लिया। मरते समय गाँव लौटकर उसने अपने बेटेसे कहा—तात, जहाँ हम शिकार करते हैं वहीं सोनेके रंगका एक मृग रहता है। अगर राजा पूछे तो बता देना।

एक दिन रानी खेमाने सपना देखा कि सोनेके रंगका मृग सोनेके

आसनपर बैठा सुनहरी घंटियोंकी आवाज़की तरह मधुर स्वरमें उसे धरमका उपदेश दे रहा था और वह साधु-साधु कहती उपदेश सुन रही थी। धर्मकी कथा बग़ैर खत्म किये ही सोन-मृग उठकर चला गया था और रानी 'मृगको पकड़ो ! मृगको पकड़ो !' कहती हुई जाग पड़ी थी। उसकी दासियाँ रानीकी चिल्लाहट सुनकर हँसती हुई बोलीं—"घरके दरवाज़े और खिड़कियाँ अच्छी तरह बन्द हैं, हवा तकके लिए जगह नहीं और देवी ऐसे समय घरके भीतर मृग पकड़वाती हैं !" रानीने जब जाना कि यह कोरा सपना था तब उसने यह सोचकर कि राजा उसका सपना सुनकर हँसेगा, उसने छल पूर्वक कहा कि मुझे दोहद (गर्भ) उत्पन्न हुआ है और मैं सोन-मृगका उपदेश सुनना चाहती हूँ। राजाने सोन-मृगका नाम तक न सुना था, पर रानीने जब इच्छा पूरी न होनेपर मरनेकी धमकी दी तब राजाने मन्त्रियों और ब्राह्मणोंको बुलाकर पूछा। जब उन्होंने उसे बताया कि हाँ सोनेका मृग होता है, और है, तब राजाने शिकारियोंको बुलाकर पूछा कि किसीने सोन-मृग देखा या सुना है ? तब निषादोंके गाँव वाले शिकारीके बेटेने पिताकी बात राजाके सामने दोहरा दी। तब राजाने उसे 'मित्र' कहा, खर्चके लिए धन दिया और विश्वास दिलाया कि सोन-मृग लानेपर वह उसका बड़ा सत्कार करेगा। शिकारी बोला, "देव अगर उसे न ला सका तो उसका चमड़ा लाऊँगा, जो उसे भी न ला सका तो उसके बाल लाऊँगा, चिन्ता न करो।"

फिर वह अपने घरके लोगोंसे विदा ले वहाँ जा पहुँचा जहाँ हिमालयमें रोहन्त सरके किनारे मृगराज सोन-मृग अपने भाई-बहन, माता-पिता और दूसरे मृगोंके साथ रहता था। उस मृगको देखकर शिकारी सोचने लगा कि किस जगह जाल बाँधनेसे मैं उसे फँसा सकूँगा ? फिर मृगोंके पानी पीनेकी जगहको इस लायक़ समझकर उसने वहीं चमड़ेकी मज़बूत रस्सी बाँट खूँटियोंपर जाल ताना। अगले दिन अस्सी हज़ार मृगोंके साथ आहार लेने और पानी पीने सोन-मृग तालाबके किनारे पहुँचा। पर जालमें

सहसा फँसकर बँध गया। तब उसने सोचा कि अगर मैं बँध जानेकी बात कहता हूँ तो मृगोंका दल बिना पानी पिये ही डरकर भाग जायगा। सो अपनेको वशमें कर जाल फँसा हुआ भी वह पानी पीता-सा मुँह बनाये खड़ा रहा। जब उसके अस्सी हज़ार मृग पानी पीकर ऊपर पहुँच गये तब उसने बन्धन तोड़नेकी तीन बार कोशिश की। पहली बार चमड़ा छिल गया, दूसरी बार मांस कट गया और तीसरी बार नसोंके कट जानेसे जाल हड्डीसे जा लगा। जब वह जाल तोड़ न सका तब उसने पकड़े जानेकी आवाज़ की और मृग तीन हिस्सोंमें बँटकर भागे। उधर चित्त-मृगने जब भाईको भागते मृगोंमें न देखा तब वह लौटा और जालमें फँसे रोहन्तके पास जा पहुँचा। रोहन्तने उसे अपने खतरेकी जगह बताते हुए कहा कि हे चित्तक, ये मृगोंके झुण्ड मरनेके डरसे भागे जा रहे हैं। तू भी जा। शंका मत कर। वे तेरे साथ जीते रहेंगे।

चित्तक बोला—हे रोहन्त, मैं नहीं जानेका। मेरा हिया खिंचा जाता है। मैं तुझे नहीं छोड़नेका। उसके बदले चाहे अपने प्राण ही छोड़ दूँगा।

रोहंत बोला—वे हमारे अन्धे माता-पिता सेवकके न रहनेसे निश्चय मर जाएँगे। तू जा, शंका मत कर। वे तेरे साथ जिएँगे।

पर चित्त-मृगने उसकी बात न मानी और दायीं ओर उसे सहारा देता हुआ उसकी बगलमें जा खड़ा हुआ। उधर सुतना नामकी बहनने जब मृगोंमें अपने भाइयोंको न देखा तब वह भी लौटी और उसके पास जा पहुँची। उसे देख रोहंतने कहा—हे भीरु, भाग जा। मैं लोहेके बन्धनमें बधा हूँ। तू भी चली जा। शंका मत कर। वे तेरे साथ जिएँगे।

पर बहिनने भी भागना मंजूर न किया और वह रोहंतके बायीं ओर सहारा देती हुई जा खड़ी हुई।

शिकारी आँख-कान लगाये देख सुन रहा था। अब उसने जाना कि मृगराज बँध गया। झट कछनी काछ हथियार ले वह मृगको मारनेके लिए

चला। उसे आता देखकर भी चित्त-मृग भागा नहीं। हाँ, सुतनाको कुछ भय हो आया और वह कुछ झिझकी। फिर यह सोचकर कि भाइयोंको छोड़ कहाँ जाऊँगी, वह भी प्राणोंका मोह तज अपनी जगह बनी रही, मरनेके लिए रुक गई। शिकारीने जब तीनोंको एक साथ खड़े देखा तब दोस्ताना तौरपर उन्हें एक कोखसे जने भाइयोंकी तरह मान सोचा—मृगराज तो रज्जु-बन्धनमें बँधा है पर ये दोनों लज्जा और भयके बन्धनसे बँधे हैं, ये भला इसके कौन लगते हैं? सो उसने पूछा—ये मृग तेरे कौन लगते हैं भला जो आज़ाद होते हुए भी बँधे हुएके पास खड़े हैं, जो प्यारी ज़िन्दगीके लिए भी तुझे तजनेको तैयार नहीं?

रोहंतने उत्तर दिया—शिकारी, ये मेरे सहोदर भाई-बहन हैं जो अपनी जान बचानेके लिए भी मुझे तजना नहीं चाहते।

शिकारीका मन वैसे ही कोमल था, अब रोहंतकी बात सुनकर और भी कोमल हो गया। तब चित्त-मृगने उसके मनकी कोमलताको भाँपकर कहा—"मित्र शिकारी, तू इस मृगराजको निरा हिरन ही मत समझ। यह अस्सी हज़ार मृगोंका राजा है, सदाचारी है, सब जीवोंके प्रति दयावान है, अन्धे बूढ़े माता-पिताको पालता है, अगर तू इस तरहके धर्मात्माको मारेगा तो इसका ही नहीं, इसके माता-पिता, मुझे और बहन इन पाँच जनोंको मारनेवाला होगा। इससे मेरे भाईको जीवनदान दे हम पाँचोंको जीवनदान देनेवाला कहलाओ।

चित्त-मृगकी बात सुन शिकारी बोला—"स्वामी डरें नहीं। मैं माता-पिताको पालनेवाले मृगको छोड़ता हूँ। इस महामृगको आज़ाद देखकर माता-पिता सुखी हों!"

फिर शिकारी सोचने लगा—"राजाका दिया ऐश्वर्य भला मेरा क्या करेगा? अगर मैं इस मृगराजको मारूँ तो ज़मीन फट जायेगी, मुझपर बिजली गिर पड़ेगी। छोड़ता हूँ इसे।" और रोहंतके पास पहुँच खूँटी उखाड़ उसने चमड़ेकी रस्सी काट दी। फिर उसने मृगराजको उठा पानीके

पास ले जाकर लिटा बाद कोमल चित्तसे धीरे धीरे बन्धन खोल नसोंसे नसें, मांससे मांस और चमड़ेसे चमड़ा उसने मिलाया। फिर पानीसे रक्तको धोकर मृगराजपर उसने दोस्तीका हाथ बार-बार फेरा। यह देख चित्त-मृगने प्रसन्न हो कहा—शिकारी, जैसे मैं आज महामृगको मुक्त देखकर सुखी हूँ वैसे ही अपने रिश्तेदारोंके साथ तू भी सुखी हो।

तब रोहंतने शिकारीसे अपनेको पकड़नेका कारण पूछा—शिकारी बोला—स्वामी मुझे तुमसे प्रयोजन नहीं है। राजाकी पटरानी खेमा तुमसे धर्मका उपदेश सुनना चाहती है। उसीके लिए राजाके हुक्मसे मैंने तुझे पकड़ा था।

रोहंत बोला—दोस्त, अगर ऐसा है तो मुझे छोड़कर बड़ी बातकी है। आ मुझे राजाके पास ले चल, मैं रानीको उपदेश करूँगा।

शिकारी बोला—स्वामी राजाओंका स्वभाव कठोर होता है, कौन जाने क्या हो। मुझे राजाके दिये ऐश्वर्यसे काम नहीं। तू जहाँ चाहे चला जा।

रोहंतने सोचा, मुझे और हाथ आये ऐश्वर्यको छोड़कर यह बड़ा त्याग कर रहा है कुछ ऐसा करूँ जिससे इसका काम भी बने और उससे बोला—'प्रिय, मेरी पीठपर हाथ तो फेर।" शिकारीने उसपर जो हाथ फेरा तो हाथ सुनहरे बालोंसे भर गया। शिकारीने पूछा—"स्वामी, इन बालोंका क्या करूँ?" रोहंत बोला—"राजासे जाकर कहना, ये उस सोन-मृगके बाल हैं, और देवीको दिखा मेरी जगहपर खड़े हो मेरी गाथाओंसे तुम्हीं उपदेश देना। इन्हें सुनते ही उसका दोहद शान्त हो जायगा।" फिर उसने गाथाएँ कहीं, धर्माचरण सिखाया, पंचशील बताया और उसे विदा किया। शिकारीने रोहंतको आचार्य मान तीन बार उसकी परिक्रमा की और चार बार प्रणामकर बालोंको कमलके पत्तेमें रख प्रस्थान किया। ये तीनों जन भी थोड़ी दूर पीछे जाकर मुँहमें आहार और पानी लेकर माता-पिताके पास गये। माता-पिताने पूछा—तात रोहंत, तू तो फँस गया था, कैसे मुक्त हुआ?

जीवन मृत्युके समीप पहुँच जानेपर कैसे मुक्त हुआ ? बेटे तुझे शिकारीने घने बन्धनसे कैसे मुक्त किया ?

रोहंतने उत्तर दिया—हियेसे निकली हुई, हियेको छूनेवाली मधुर वाणीसे इस चित्तकने मुझे छुड़ाया। हियेसे निकली हुई हियेको छूनेवाली इस मधुर वाणीसे इस सुतनाने मुझे छुड़ाया। हियेसे निकली हुई हियेको छूनेवाली मधुर वाणीको सुनकर शिकारीने मुझे छोड़ दिया। माता-पिताने यह सुनकर आशीर्वचन कहा—"इसी प्रकार शिकारी भी अपनी पत्नीके साथ सुखी हो, जिस प्रकार रोहंतको पाकर हम सुखी हुए हैं !"

शिकारी भी जंगलसे निकल राजदरबार पहुँचा और राजाको प्रणाम-कर एक ओर खड़ा हो गया। राजाने पूछा—शिकारी, क्या तूने मृगचर्म लानेको नहीं कहा था ? फिर बिना उसके कैसे आया ?

शिकारी बोला—सोन-मृग तो मेरे हाथ आ गया था, मेरे कड़े बन्धनमें फँस गया था। उस मृगराजके पास दूसरे मुक्त मृग खड़े थे। यह देख मेरे रोयें आवेगसे खड़े हो गये। मुझे लगा कि अगर मैं मृगको मारता हूँ तो स्वयं ही जीता न बचूँगा।

तब राजा बोला—शिकारी, तू उन मृगोंकी बड़ी तारीफ़ करता है। वे मृग कैसे हैं ? वे कैसे धार्मिक हैं ? उनका रंग कैसा है ? उनका शील कैसा है ?

शिकारीने उत्तर दिया—"सफ़ेद सींग, चमकते बाल, चाँदी-सी चमड़ी, लाल पाँव और मनोहर रंग आँखोंवाले हैं वे मृग।" और मृगके सुनहरे बाल राजाके हाथमें रख उन मृगोंका रंग स्पष्ट करते हुए शिकारी फिर बोला—"हे देव, वे ऐसे मृग हैं। वे ऐसे धार्मिक मृग हैं। देव, माता-पिताका पालन करनेवाले हैं, वे माता-पिताका पोषण करनेवाले हैं, इसलिए मैं सोन-मृग नहीं लाया। मुझे उस मृगराजने अपने बाल देकर कहा है कि मेरे स्थानपर खड़े होकर देवीको दस गाथाओंसे उपदेश देना।" और उसने सोनेके आसनपर बैठ उन गाथाओंसे उपदेश दिया। रानीका दोहद

शान्त हो गया। राजाने खुश होकर शिकारीको बड़ी दौलत देते हुए कहा—शिकारी, मैं तुझे सौ तरकश देता हूँ, बड़े क़ीमती मणिकुण्डल देता हूँ, फूलकी शोभावाला चौकोर पलंग देता हूँ, दो एक-जैसी पत्नियाँ देता हूँ, सौ गाएँ और बैल देता हूँ। शिकारी, तूने मेरा बहुत उपकार किया है। अब मैं धर्मके मुताबिक राज करूँगा। तू भी, शिकारी, अब हिरन पकड़नेवाला यह पापका काम छोड़ दे, खेती, व्यापार, ऋण-दान आदिसे अपने कुनबेका पेट भर।

शिकारी बोला—देव, मुझे गृहस्थीसे क्या काम? मुझे तो प्रव्रजित (भिक्षु) होनेकी आज्ञा दें।

और आज्ञा पाकर राजाका दिया हुआ धन बेटे और स्त्रीको सौंप हिमालय जा वह ब्रह्मलोक-गामी हुआ। राजाने भी सोन-मृगके उपदेशके अनुसार चलकर स्वर्ग पाया। वह उपदेश हज़ार साल चला।

इस प्रकार कथा समाप्तकर बुद्ध बोले—उस समय शिकारी छन्न था, राजा सारिपुत्र, रानी खेमा भिक्षुणी, माता-पिता महाराज-कुल, सुतना उप्पल-पण्णा, चित्त-मृग आनन्द, अस्सी हज़ार मृगसमूह शाक्यगण और रोहंत मृगराज तो मैं ही था।

चीनी पौराणिक विश्वासमें देवताओंका स्थान अपौरुषेय है जिस तरह हम यूनानी या भारतीय देवताओंको मनुष्योंसे मिलते-जुलते, राग-द्वेष करते, लड़ते-भिड़ते पाते हैं उसी तरह चीनी विश्वासमें देवताओंका स्थान नहीं है। देवता देवता हैं, आदमी आदमी, यद्यपि बिलकुल ऐसा नहीं कि दोनोंके बीच कभी संपर्क होता ही न हो। मामूली तौरपर आकाश और पृथ्वी देवताओं और आदमियों या समूची सृष्टिके जनक-जननी हैं। आकाशका देवता सारे चीनी देवताओंमें प्रधान है और उसके विशाल मंदिर पीकिंग आदि नगरोंमें बने हुए हैं। उसकी पूजाके लिए ऊँची सीढ़ीदार बेदी बनी रहती है जिसपर बड़े पुराने ज़मानेसे पूजा होती चली आयी है। चीनके सम्राट् भी अपनी राजगद्दी उसी देवताकी

कृपासे पाते थे, ऐसा जन-विश्वास था, और अभी हाल तक राजाओंका अभिषेक उसी वेदीके पास होता रहा है। चीनके राजा अपनेको आकाश देवताके ही वंशज मानते थे और उनकी उपाधियोंमें प्रधान उपाधि "आकाशका बेटा" हुआ करती थी। आज भी पीकिंगके मन्दिरों और संग्रहालयोंमें उस देवताकी पूजाके लिए हज़ारों वर्ष पुराने पीतल और काँसेके हंडे और कलसे रखे हुए हैं।

चीनके जन-विश्वास और पौराणिक कथाओंमें भी जल-प्रलयकी बाबुली कहानी जीवित है। पर उससे भी अधिक महत्त्वका जन-विश्वास उस अजगरपर केंद्रित है जो कभी सारे चीनमें पूजा जाता था। बाबुली, असीरी और ऋग्वैदिक आर्योंके साहित्यमें जिस अप्सू या वृत्रका बयान आता है वह भी चीनी अज़दहेकी तरह ही लम्बी पूँछ वाला साँप या अजगर है, जो अकालका राक्षस माना गया है और जो जलके सारे सोतोंपर कुण्डली मारकर सूखा पैदा करता है। उसे फिर मारदुक या इन्द्र वज्रसे मारकर जलके सोत खोल देता है और खेत लहलहा उठते हैं। परन्तु चीनी अज़दहा अकालका देव नहीं कल्याणका देवता है और गणेशकी तरह शुभ माना जाता है। बर्तनों और मन्दिरोंपर, भवनों और इमारतोंपर, सभी चीज़ोंपर उसके एकसे एक चमत्कारी चित्र और मूरतें बनी होती हैं।

चीनी देवताओं और इनकी कथाओंके अलावा लोकमें प्रसिद्ध ऐसी कहानियाँ भी हैं जो आदमी और दूसरे जीवों या प्रकृतिकी शक्तियोंके बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इस तरहकी एक कहानी शिकारी 'ई' की है जो नीचे दी जाती है—

बहुत दिनोंकी बात है चीन देशमें "ई" नामका एक शिकारी रहता था। उसका निशाना बड़ा अचूक था। तीर फेंककर वह निशानेकी ओर घोड़ा तेज़ीसे दौड़ाता क्योंकि वह जानता था कि उसका निशाना कभी चूकेगा नहीं।

एक बार चीनपर एक आफ़त आ गई। आसमानमें अचानक दस सूरज

एक साथ निकल आये। दसों सूरज ज़मीनकी छातीपर आग उगलने लगे। पेड़-पौधे जल उठे, पशु-पक्षी तबाह हो गये और लगा कि आदमीकी जाति ही दुनियासे मिट जायगी। शिकारी "ई" बड़ी चिन्तामें पड़ गया। वह सोचने लगा कि चीनकी जनताको दस-दस सूर्योंसे कैसे बचाया जाय। जब कोई सूरत समझमें न आई तब उसके ग़ुस्सेका पारा ऊँचा चढ़ गया। उसने एकाएक अपना धनुष चढ़ा लिया और तरकशसे दस तीर निकाले। एकके बाद एक उसने दसों तीरोंसे दसों सूरजोंपर वार किया। तीरोंकी सनसनाहटसे जैसे बाजेकी आवाज़ होने लगी और हवाको चीरकर तीर नौ सूरजोंके गोलोंमें जा लगे। फिर क्या था जैसे फूलके गुब्बारे बैठ जाते हैं वैसे ही नवों सूरज मद्धिम सितारोंकी तरह धुँधले और कमज़ोर हो गये।

बस दसवाँ सूरज किसी तरह बच गया, क्योंकि दसवाँ तीर तनिक चूक गया था। घबड़ाया हुआ वह सूरज डरके मारे बँसवाड़ीके पीछे जा छिपा, ज़मीनपर भयानक अँधेरा छा गया और गर्मी कुछ ऐसी ग़ायब हुई कि लोग सर्दीसे ठिठुर-ठिठुरकर मरने लगे। यह एक नयी आफ़त आई। संसारको गर्मी और उजेला भी चाहिए और उजेला सूरज ही दिया करता है जो अब भागकर बाँसोंके पीछे जा छिपा था। शिकारी "ई" बड़ी चिन्तामें पड़ गया। क्योंकि वह समझता था कि उसने दसों सूरजोंको बरबाद कर दिया है।

उधर छिपे हुए सूरजने यह सोचकर कि शिकारी 'ई' चला गया होगा बाँसोंके पीछेसे सिर उठाकर बड़ी होशियारीसे झाँका। शिकारी "ई" को अब भी खड़ा देख सूरज घबड़ाकर फिर बाँसोंकी ओट हो गया। पर शिकारीने अब चैनकी साँस ली क्योंकि एक सूरज अभी बच रहा था, जिससे दुनियाकी रक्षा हो सकती। शिकारी "ई" खुशी-खुशी अपने घर चला गया और सूरज धीरे-धीरे डरा-डरा बाँसोंके पीछेसे निकला। दुनिया-के लोगोंको नई ज़िन्दगी मिली।

पर, कहते हैं, शिकारी 'ई' का डर अब भी सूरजके दिलमें बना हुआ है। इसीसे २४ घंटे आसमानमें चमकते रहनेकी उसे हिम्मत नहीं होती। सुबह पूरबमें निकलकर वह सीधा पच्छिमकी ओर भागता है और शाम होते-होते वह फिर बँसवारीकी ओट जा छिपता है, जिससे रात होती है।

यही राज़ है रात और दिनका। पहले सदा दिन ही रहता था पर जबसे सूरजके दिलमें शिकारी 'ई' का डर समाया तबसे दिन और रात दोनों होने लगे।

हिमालयकी व्युत्पत्ति   : १० :

करोड़ों साल हुए, दक्षिण भारत एक ओर अफ़्रीका, दूसरी ओर आस्ट्रेलियासे मिला हुआ था। थलका वह अटूट विस्तार हिन्द महासागरपर छाया था, दक्खिनी अमेरिका तक। उधर उत्तरमें न केवल उत्तर भारत बल्कि प्राय: सारा हिमालय और एशियाके अधिकतर भाग जलमग्न थे। उनपर सागरकी फेनिल लहरें टूटती थीं। तब हिमालय न था।

एकाएक एक दिन पृथ्वीके गर्भमें कुछ हुआ, ज़लज़ला आया, ज़मीन सिकुड़ी और फैली, सिकुड़ी और फैली। उसकी ऊपरी सतहका सहसा कायापलट हो गया। दक्खिनमें समुन्दर उठा। उसने भारत, अफ़्रीका और आस्ट्रेलियाको जल द्वारा बाँट दिया। उसी भूकम्पने उत्तरको ऊपर फेंका। सहसा हिमालयकी उत्तुङ्ग शृङ्खलाएँ सागरसे उठकर नंगी हो गईं। उसकी वह एवरेस्ट आसमान चूमने लगी जिसकी अभीकी इंसानी विजयकी गूँज आज भी हवामें भरी है। साथ ही उसके उत्तर और दक्खिनमें भी समुन्दरने मैदान उगल दिये। हिमकी श्वेत हरी धाराओंसे गिरिराजने उन्हें सम्पन्न किया।

वही गिरिराज हिमालय कालान्तरमें मनुष्यकी प्रेरणा और आकर्षणका केन्द्र बना। उसके हिमधवल शिखरोंपर सूरजने सोना बिखेरा, चाँदने चाँदी। मनुष्यकी कल्पना अपने वैभवसे उसे सनाथ करने लगी। वह हिमालय भय, सौन्दर्य, वैराग्यका अपने मानव-दर्शकोंमें संचार करने लगा। इंसानने उसे विलासमें खोजा, मृत्युमें पाया। उसकी गहरी कन्दराओं और आदिम जंगलोंमें उसने अभिमत सत्यके दर्शन किये। उसकी चोटियोंपर अमरोंकी अलका बसाई। प्रणय-विह्वल कामुक किन्नर-किन्नरियोंको

रागसे ध्वनित किया, प्रेयसियोंको मेघदूत भेजे। शिवके घनीभूत श्वेत अट्टहासने उसके मस्तकका तुषार-मण्डन किया, देव-वनिताएँ बर्फ़ीली चिकनी चट्टानोंके दरपनमें उसकी छबि निहारने लगीं। तीसरे नयनकी आगसे जलते-जलते भी कामने जो अपना अमोघ शर फेंका तो अवधूत-राज शिवका मन डोल गया, कैलास और गंधमादनके कन-कनमें उल्लास जागा।

भारतीय विचारोंके अनुसार हिमालयका विस्तार पूरबसे पच्छिम समुद्रसे समुद्र तक है। कालिदास कहते हैं:—**अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥** उत्तर दिशामें गिरिराज हिमालय है जो पूर्व और पच्छिम के समुद्रोंमें प्रवेश करता हुआ पृथ्वीके मापदण्ड-सा स्थित है। इस प्रकार हिमालय प्राचीनोंकी रायमें भारतकी उत्तरी भौगोलिक और राज-नीतिक आदर्श सीमा प्रस्तुत करता था। परन्तु साधारण तौरसे हिमालय-का यह मान संसारके भौगोलिकोंको मान्य नहीं है। उन्होंने उसका १५०० मील लम्बा विस्तार पच्छिममें गिलगित और पूरबमें ब्रह्मपुत्र तक माना है। इस प्रकार हिन्दुकुश हिमालयकी शृङ्खलासे बाहर है। भारतीय परिभाषाके अनुसार पच्छिममें हिन्दुकुशके अलावा ईरानी पठार-का एक भाग और पूरबमें वर्माके भी कुछ हिस्से शामिल होते। इस १५०० मील लम्बे पहाड़ी सिलसिलेकी चौड़ाई क़रीब ४०० मील है। हिमालयकी ६ श्रेणियाँ हैं जो पामीरकी गाँठसे निकलकर पूरबकी ओर जंज़ीरोंकी तरह बढ़ती गई हैं। ज्यों-ज्यों ये श्रेणियाँ पूरबकी ओर बढ़ती गई हैं त्यों-त्यों इनकी ऊँचाई भी बढ़ती गई है। एवरेस्ट जो उसकी सबसे ऊँची चोटी है, इसी पूर्वी शृङ्खलामें है। हाँ, गाडविन आस्टिनकी दूसरी आकाशचुम्बी चोटी ज़रूर पश्चिममें है।

इन श्रेणियोंका एक अन्दाज़ इस प्रकार है। इनकी सबसे उत्तरी श्रेणी क्वेनलुन पहाड़ोंकी है जो तिब्बती पठारकी ऊँची मुण्डेर बनाती है। दूसरी

श्रेणी कर्राकोरम या मुज़दाग पहाड़ोंकी है, सिन्धुनदके उद्गमके उत्तरमें। इस शृंखलाका मध्यम भाग अत्यन्त आकर्षक है। वहीं वह प्रसिद्ध ज़ोरकुल झील है जिससे संसारकी चार बड़ी नदियाँ निकलकर सोना उगलनेवाली ज़मीनको सींचती हैं। उत्तरकी ओरसे उस आमू दरिया या वंक्षुका निकास है जिसे अरब वक्षाब कहते थे, जो वख़ां, बलख़, बदख़्शाँको सरसब्ज़ करती मध्यएशियाके मैदानोंमें रेंगती अरब सागरमें गिरती है। उसके तटवर्ती वह्लीकमें केसरके खेत हैं जिनकी फूली क्यारियोंमें लोट-लोट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके घोड़ोंने अपने अयाल लाल कर लिये थे। उसी झीलसे पूर्वकी ओर ब्रह्मपुत्र निकलता है जिसके बहावकी राहमें कामरूपका जादूका देश है। लोक-कल्पना वहाँ वह नारीराज स्थापित करती है जहाँकी नारियोंको प्रिय पुरुषको भेड़ा बना रखनेका इष्ट था। पच्छिममें सिन्धु नदी कश्मीर-की ऊँचाइयोंसे उत्तर पंजाबको उर्वर करती है और दक्खिनमें गंगा मध्य-देशको अपने स्पर्शसे पावन।

हिमालयकी तीसरी शृंखला लदाख़का निर्माण करती है, सिन्धुके उत्तर-दक्खिन दोनों ओर जस्कर हिमालयकी प्रधान पर्वतमाला है। उसका मस्तक बर्फ़ीली चोटियोंसे चमकता रहता है। उसीकी चोटियाँ गंगोत्रीसे नन्दादेवी तक शिमलाके पहाड़ोंसे दीखती हैं। पीर पंजाल या धौलाधरकी श्रेणी बाहरी हिमालयमें पड़ती है जो उसकी पाँचवीं शृंखला है। निचले हिमालयमें डलकी अन्तिम और छठी पर्वतमाला है जिसमें सिवालिकका विस्तार है। दौरानके ख़्यालसे हम इस पन्द्रह सौ मील लम्बी पर्वतश्रेणी-को और भी अधिक सुगम तरीक़ेसे बाँट सकते हैं। अगर हम इसके चार भाग करें तो उनकी गणना इस प्रकार होगी—(१) पंजाब-हिमालय ३५० मील, (२) कुमायूँ-हिमालय २०० मील, (३) नेपाल-हिमालय ५०० मील और (४) आसाम-हिमालय ४५० मील।

पंजाब-हिमालयका विस्तार गिलगितसे सतलज तक है। इसमें अधिक-तर २० हज़ार फ़ुटसे कम ही ऊँची चोटियाँ हैं। पर नंगापर्वत इसी

विस्तारमें है। उसकी ऊँचाई २६६५६ फ़ुट है। कमायूँ-हिमालयकी श्रृंखला सतलजसे काली नदी तक चली गई है। इसीमें अधिकतर तीर्थ-स्थान और धर्मपूत शिखर हैं। नन्दादेवी २५६४५ फ़ुट ऊँची है, कामेट २५४४७ फ़ुट, त्रिशूल २३३६० फ़ुट, बद्रीनाथ २३१९० फ़ुट, केदारनाथ २२२७० फ़ुट और गंगोत्री २१७०० फ़ुट। जमनोत्री भी इसी श्रृंखलामें है। नेपाल-हिमालयका विस्तार सबसे बड़ा है। काली नदीसे सिक्किम तक इसकी चोटियाँ संसारमें सबसे ऊँची हैं। तिब्बत और नैपालकी सन्धिपर खड़ा २९००२ फ़ुट ऊँचा एवरेस्ट इसीमें है। क़ंचनजंगा २८१४६ फ़ुट ऊँचा है, मकालू २७८००, यासा २६,६८०, धवलागरि २६,३०५, ब्रांराघोर २६, ०६९, नारायणी २५,४५६, गुरला मान्धाता २५,३६५, गौरीशंकर २३,४४० फ़ुट। आसाम-हिमालयका विस्तार सिक्किमकी तिस्ता नदीसे ब्रह्मपुत्र और बीनकी सीमा तक है। इसकी चोटियोंमें प्रसिद्ध नाम चाबाखा, धोनकिया, जोंगसोंगला, कुल्हाकांगरी, चीमोल्हारी, काबरू आदि हैं जिनकी ऊँचाई २४, ४४५ और २४,०१५ फ़ुटके बीच है।

हिमालयकी पर्वतमालाओंमें छोटी-बड़ी अनन्त झीलें हैं। कमसे कम मानसरोवरको ओर संकेत कर देना अनिवार्य है। मानसरोवरका सौंदर्य संस्कृत और हिंदी साहित्यमें सराहा गया है। इसके रंग-विरंगे कमल-वनका उल्लेख अनेक यात्रियोंने किया है। वर्षाके आरंभमें हंसोंकी क़तारें मैदानोंको छोड़ उत्तर हिमालयकी शरण लेती हैं जहाँ उनका अंतिम लक्ष्य मानसरोवर होता है। जब तक कमल दल शीतकी चोटसे जल नहीं चलते, हंस-मिथुन उनमें विचरते हैं फिर मैदानोंको लौट पड़ते हैं। कालिदासने इसके स्वर्ण-कमलोंका उल्लेख किया है।

मानसका सरोवर कैलासकी पर्वतमालामें ही, कैलाससे लगभग २५ मील दक्खिन है। नीति नामक दर्रेसे पूर्व कैलास और मानसरोवर दोनों तिब्बतमें हैं। कैलासका तिब्बती नाम खाँग-रंपोचे है। देशी-विदेशी सभी यात्रियोंने उसकी शालीनता सराही है। स्ट्रैचीका तो कहना है कि

122400

भारतीय हिमालयमें कोई गिरि-शिखर ऐसा नहीं जो कैलासकी सुन्दरता पा सके। कालिदासने उसे स्फटिकका बना कहा है। गौरीशंकरका नाम भारतीय साहित्यमें बारबार आता है। साधारणत: यह माना जाता था कि गौरीशंकर हिमालयकी सबसे ऊँची चोटी है। अनेक उसीको एवरेस्ट मानते हैं। परन्तु अब कैप्टेन उडके मापसे प्रमाणित हो गया है कि गोरीशंकर एवरेस्टसे प्राय: साढ़े पाँच हज़ार फ़ुट नीची दूसरी चोटी है। गंधमादनकी चर्चा संस्कृत साहित्यमें शंकरके विहारके संबंधमें अनेक बार हुई है। पुराण तो इन विहारोंके वर्णनसे भरे पड़े हैं। हिन्दू भौगोलिकोंने उसे कैलासका ही एक भाग माना है। कालिकापुराण इसे कैलास पर्वतका दक्षिणी भाग मानता है। महाभारत और वराहपुराणमें इसी शृंखलामें बदरिकाश्रमका होना भी लिखा है। मार्कण्डेय और स्कन्द-पुराण गन्धमादनको गढ़वालके पहाड़ोंका वह भाग मानते हैं जिनसे होकर अलकनन्दा बहती है। कालिदासने उसे कैलासका ही एक अंग माना है, जिससे होकर उनकी रायमें मन्दाकिनी और जाह्नवी बहती हैं।

हिमालयका वर्णन और दर्शन सदासे भारतीयोंको प्रिय रहा है। महाभारतके वीर पाण्डव अन्तमें इसी पर्वतमालामें गलकर शान्तिलाभ करने गये थे। संस्कृतके कवियोंमें इस पर्वतमालाके सौंदर्य-गायनकी विशेष कमज़ोरी रही है। कालिदास तो जैसे अपने ग्रंथोंमें बार-बार इस शैलराजकी ओर लौट पड़ते हैं। कुमारसम्भवकी सारी कथा हिमालयमें ही घटित होती है। उत्तरमेघ भी इसी पर्वतका वर्णन करता है। विक्रमोर्वशीयका चौथा और अभिज्ञान शाकुन्तलका सातवाँ अंक हिमालयसे ही तात्पर्य रखते हैं। रघुवंशके पहले, दूसरे और चौथे सर्गोंमें भी उसी गिरिराजका बखान है।

कालिदासके हिमालय वर्णनका संक्षेपमें उल्लेख अनुचित न होगा। पर्वतकी मेखलामें संचरण करते मेघोंकी शीतल छायाका आनन्द

ले सिद्ध वर्षा और आँधीसे उद्वेजित ऊपरकी शिलाओंपर धूपका सेवन करते हैं। भोजपत्रोंसे रह-रहकर मर-मर ध्वनि उठती है। पवन बाँसके रंध्रोंमें सरसरा कर वंशी ध्वनि उत्पन्न करता है जिससे किन्नरियोंके गानेको सहायता मिलती है। गंगासीकरोंसे लदी शीतल वायु यात्रियोंका मार्गश्रम दूर करती है। नमेरु वृक्षकी घनी छायामें बैठे कस्तूरीमृगके नाभिके स्पर्शसे शिलाएँ गमक उठती हैं। सरल द्रुमोंके परस्पर घर्षणसे सहसा दावाग्नि प्रज्वलित हो उठती है। रात्रिके समय वनस्पतियाँ तेलहीन प्रदीपोंका रूप धारण करती हैं। हिमालयकी शृंखलामें एक ओर क्रौंचरन्ध्र है जिसे परशुरामने अपनी शक्तिकी परीक्षाके लिए वाणसे भेद द्वार-सा प्रस्तुत कर दिया था। उसीकी पृष्ठभूमिमें हालके कटे हाथी दाँतकी तरह तुषारमण्डित कैलास है जिसकी दर्पणकायामें देवांगनाएँ अपनी छवि निहारती हैं। हिमालयकी शालीनता उन चमरी गायोंके गमनागमनसे बढ़ जाती है जिनकी पूँछ सम्राटोंको उनके चमर-लांछन प्रदान करती हैं। हाथियोंके झुण्ड सदा सर्वत्र देवदारुके जंगलोंमें फिरा करते हैं। उनके संघर्षणसे सरल वृक्ष छिल जाते हैं और उनके दूधकी गंधसे वातावरण गमक उठता है। कवि पर्वतके 'शिलीभूतहिम' और 'तुषारसंघातशिलाओं' का वर्णन करते नहीं अघाता।

मिस्र और पश्चिमी एशियाके साहित्य और जन-विश्वास

: ११ :

सभी प्राचीन सभ्य और असभ्य जातियोंके अपने-अपने विश्वास हैं। विश्वास वे अधिकतर काल्पनिक हैं और धर्म या भयसे सम्बन्ध रखते हैं। आदमी अपनी ज़िन्दगीको ही दुनियाकी ज़ाहिर और छिपी चीज़ों और ताक़तोंका प्रतीक मानता है और उसीके मुताबिक वह अपने विश्वास गढ़ता जाता है, उसीके मुताबिक वह अपने देवता सिरजता जाता है।

प्रायः सभी जातियोंके प्राचीन देवता इंसानकी ही तरह हाथ-पैर वाले, नाक-मुँह-आँखों वाले जीव हैं जो चल-फिरते, काम करते, मरते-मारते हैं, खाते-पीते और बोलते हैं, सुनते-सूँघते और देखते हैं। आदमीकी ही तरह उन्हें भी प्यार और गुस्सा आता है, वे भी उसी की तरह सोते-जागते हैं, सुंदर-असुन्दर होते हैं। उसीकी तरह उनमें आपसी बैर और प्यार होते हैं, उसीकी तरह वे आपसमें जंग भी करते हैं। गरज़ कि आदमी अपने ही रूपमें अपने देवताको सिरजता-सँवारता है।

जीनेकी लालसा इन्सानकी इतनी प्रबल है कि वह मरनेके बाद भी एक नई ज़िन्दगी जीना चाहता है, चाहे वह ज़िन्दगी स्वर्गकी हो चाहे नरककी। सभी जातियोंके अपने-अपने बिहिश्त हैं, अपने-अपने दोज़ख हैं, जहाँ अपने-अपने धर्म, मज़हबी विश्वास, काल्पनिक प्रेरणाके अनुसार वे खुशी या तकलीफ़के दिन गुज़ारते हैं। फ़र्क़ बस इतना है कि उनकी कल्पना-के मुताबिक मौतके बादकी वह ज़िन्दगी बेइन्तहाँ लम्बी होती है, मज़ेके

वहाँ बेशुमार जरिये होते हैं, सुखके अपार साधन जिनसे इन्सानकी आत्मा अनन्तकाल तक छकती-अघाती रहती है।

स्वयं आत्मा या रूपकी कल्पना भी इसी आधारसे उठी, कि आदमी जी हुई ज़िन्दगीसे चिपका रहना चाहता है और तृष्णापर हज़ार लानत भेजता हुआ भी उसकी छाया नहीं छोड़ पाता।

यही कहानी बाबुली जातियोंकी रही है, यही आत्मा मानने वाले आर्योंकी और यही प्राचीन मिस्रियोंकी। हाँ, मिस्रमें मौतके बाद ज़िन्दा रहनेकी यह हविस ग़ज़बका ज़ोर पकड़ गई। मिस्रियोंका यह विश्वास था कि जब तक हमारा भौतिक शरीर—इस ज़िन्दगीमें जीने वाला तन—जीवित या मरी हालतमें बना रहता है तब तक उसकी आत्मा भी कहीं न कहीं घूमती रहती है और फिर घूमकर उसी शरीरमें पैठ जाती है और इन्द्रियोंको अच्छी लगने वाली सभी चीज़ोंको भोगती है।

इसीलिए मिस्रियोंने अपने मृतकोंकी 'ममियाँ' बनाईं और उन्हें बचा रखनेके लिए विशाल पिरामिड खड़े किये। ताजसे हज़ारों साल पहिले—मुहम्मद, ईसा और बुद्धसे हज़ारों साल पहिले—उन्होंने वह लेप या उबटन खोज निकाला जिससे वे लाशको लेपकर, उसे कपड़ेसे लपेटकर ताबूतमें रखकर आज तक सुरक्षित रख सके। इसी तरह उन्होंने अपने और अपने देवताओंके प्रियपात्र स्वयं देवता स्वरूप बन्दरों, बिल्लियों, घड़ियालों तककी 'ममियाँ' बनाईं और उन्हें उनके खाने-पीने आरामकी चीज़ोंसे घेरकर अपने पिरामिडोंमें बन्द कर दिया, जिससे उन्हें धूप और नमी न छू सके, नष्ट न कर सके।

संसारके अचरज ये पिरामिड प्राचीन मिस्रियोंके मक़बरे हैं जिनमें उनके राजाओंके मृत शरीर बचा रक्खे गये हैं। उनके चारों ओर मृत्युके साथ रहनेवाले दास-दासियाँ, कुत्ते-बिल्ली आदिकी मूर्तियाँ हैं, चिरकाल तक चलने वाली खाने-पीनेकी चीज़ें हैं। प्राचीन बाबुलके पासके पुराने शहर ऊरकी कब्रोंमें यही दास-दासी अपने हाड़-मांसके शरीरके साथ कभी

दफना दिये जाते थे। बेशक मिस्री या तो उनसे ज़्यादा रहमदिल थे या बेरहमीका अपना वह पुराना ज़माना पार कर चुके थे जब वे भी इन मूरतोंकी जगह हाड़-मांसके आदमी मृतकोंके साथ दफ़नाते रहे होंगे।

मिस्रियोंका यह विश्वास था कि मरे हुए इन्सानकी आत्मा पाताल या यमलोकके पहिले यमलोकके देवता ओसिरिसके पास ले जाई जाती है और जब वह अपनेको कुल पापोंसे मुक्त होनेका सबूत दे लेती है तब उस देवताका आशीर्वाद पाकर अपने पुराने शरीरमें लौट आती है और आस-पास रखी चीज़ोंको भोगती है। वह आत्मा ज़िन्दगीकी दुनियामें तो नहीं लौट पाती पर अपनी 'ममी' में प्रवेश करती और पिरामिडमें निवास करती है। इसीलिए शरीरका 'ममी' बनाना वहाँ इतना आवश्यक होता था। इसीलिए उस ममीकी रक्षाके लिए पिरामिडोंकी इतनी आवश्यकता थी।

मिस्री जीवनमें मृत्युकी उपासना सबसे अधिक महत्त्व रखती थी। मौतके परेकी ज़िन्दगी पहलेकी ज़िन्दगीसे बँधी थी और उन तीनोंका एक अटूट सिलसिला था। ख़ुद ज़िन्दगी भी मौतके बादकी ज़िन्दगीके लिए ही एक तैयारी थी। स्वाभाविक ही मौतका देवता ओसिरिस भी वहाँके देवताओंकी परम्परामें कभी बड़ा ऊँचा स्थान रखता था।

मिस्री देवताओंका एक परिवार था जिसमें ओसिरिस पिता था, ईसिस माता थी और होरस या सूरज उनका पुत्र था। पहिले उसे अज या बकरेका रूप मिला, फिर बाज़ और साँड़का। बाज़को मिस्री लोग 'सोक्री' और सांड़ को 'हापी' कहते थे। उस ज़मानेमें, या कुछ बाद, साँड़की पूजा हमारे देशके मोहनजोदड़ों और हड़प्पा तथा बाबुल, निनेवे, आदिमें भी होने लगी थी। (हमारे देशमें तो शिवके साँड़की पूजा आज भी होती है) कुछ काल बाद वही ओसिरिस, जो कभी अन्न और फ़सलोंका देवता था, ओसिरिस-खेन्तामेन्तिथका नया नाम धारणकर मृतकोंका

महान् देवता बना। धीरे-धीरे उसका प्रताप इतना बढ़ा कि वह सूरज भी मान लिया गया।

ओसिरिसकी पत्नी ईसिस शायद सीरियासे मिस्र आई। कहते हैं कि देवता सेतने ओसिरिसको मारकर उसकी लाशको देवदारकी सन्दूक़में बन्द-कर बिब्लस नामक नगरमें छोड़ दिया था जहाँ ईसिसने उसे पाया और जिलाकर उसे अपना पति बनाया। ईसिस भी अपने पति ओसिरिस और प्ताहकी ही तरह इंसानी सिर वाली देवी है। पितृहन्ता सेतको मारकर पुत्र होरसने पिताकी मौतका बदला लिया।

मिस्रियोंके अनेक देवताओंके सिर जानवरोंके थे। आदमीके तनपर जानवरका सिर बिठानेका खास मतलब हुआ करता था। मोहनजोदड़ो आदिकी मोहरोंपर उभारी तसवीरोंमें भी आदमीके तनपर शेर आदिके सिर बने हुए हैं जिससे उनको शेरकी-सी ताक़तका अन्दाज लगाया जा सके।

साधारण तौरसे प्राचीन मिस्री नर और नारी प्रसन्न जीव थे। बाजों-के साथ नाचते हुए नगरोंकी सड़कोंपर उनका निकलना त्योहारोंका विशेष दृश्य होता था। इसीसे मौतके बाद ज़िन्दगीका ख़त्म हो जाना उन्हें गवारा न हो सका और उन्होंने मौतके परे भी ज़िन्दगीकी दुनिया सिरज डाली। वे क़रीब चार क़िस्मकी रूहों या आत्माओंपर विश्वास करते थे। इसमेंसे पहली आत्माको वे 'का' या 'को' कहते थे। 'का' का मतलब उनकी ज़बानमें 'दूसरा' होता था, यानी शरीरका दूसरा रूप, जिसकी मूर्तियाँ अक्सर लाशके पास ही पिरामिडोंमें बना दी जाती थीं। 'बाई' दूसरे प्रकारकी आत्मा थी जिसका सिर तो इन्सानका होता था और शरीर पक्षीका। तीसरे प्रकारकी रूह 'इख़' कहलाती थी जिसका सम्बन्ध भी पक्षीसे ही था। कहते हैं कि 'बाई' तो लौटकर 'ममी' बने हुए शरीरमें प्रवेश कर जाती थी और 'इख़' सीधे आसमानमें उड़ जाती थी। चौथी आत्मा एक प्रकारकी छाया थी जो बहुत कालतक इधर-उधर फिरा करती

थी । अपने देशमें भी आत्माको 'हंस' माना गया है और छाया तो प्रेतका दूसरा नाम ही है । आत्माएँ या छाया—शरीर ओसिरिस या पातालके दूसरे देवताओंके साथ फिरा करते थे और जैसे सूरज रातमें फिरकर सुबह आसमानके सिरेपर फिर निकल आता है ये प्रेतात्माएँ भी यमलोकमें अपने पाप-पुण्यका लेखा-जोखा देकर एक नये जीवनमें प्रवेश करती थीं। उनके पापोंका लेखा-जोखा ओसिरिसके सामने थोथ नामकी देवी करती थी । वह तराजूके एक पलड़ेपर 'मुत' नामकी देवीके पंखोंको रखती थी और दूसरेपर आत्माके हृदयको और इस प्रकार इस हृदयको पंखोंसे तौलकर उसके पाप-पुण्यका अटकल लगाती थी । वैदिक देवता वरुण भी इसी प्रकार मृतात्माओंके पाप-पुण्यका लेखा-जोखा रखता था और यम-राज उसके अनुसार उनको दुःख-सुख देता था ।

मृत्युके बाद आदमीका क्या होता था, वह कहाँ जाता था, क्या करता था—यह सब अनेक प्रकारकी कहानियोंमें मिस्रकी चित्र-लिपिमें लिखा मिलता है । बड़ी दिलचस्प कहानियाँ इस सम्बन्धमें उन तस्वीरोंमें लिखी मिलती हैं जो पिरामिडोंकी दीवारोंपर खुदी हुई हैं । अनेक कहा-नियाँ अब विद्वानोंने पढ़ डाली हैं और उनसे प्राचीन मिस्रियोंके धार्मिक विश्वासोंपर खासा प्रकाश पड़ा है । उनके उस कालके साहित्यका एक बड़ा संग्रह ही तैयार हो गया है जिसे संसारका सबसे प्राचीन साहित्य मानना चाहिए । उस साहित्यकी अनेक कहानियोंमें तो कल्पनाकी इतनी ऊँची उड़ान है कि आजका पढ़नेवाला उन्हें पढ़कर हैरतमें आ जाता है । इस प्रकारकी एक कहानी रूसके सेंट पीटर्सवर्ग (अब लेलिनग्राद) के हर्मिटेज़ नामक संग्रहालयमें १९ वीं सदीके अन्तमें मिल गई थी ।

इस साहित्यको मृतकोंकी किताब कहते हैं क्योंकि उनके पन्नोंपर अनेक कहानियाँ, टोने-टोटके, जन्तर-मन्तर इसलिए लिखे हुए हैं कि उनकी मददसे मृतककी आत्मा मौतके बादकी अपने सफरकी राह आसानीसे तय कर सके और खतरोंसे बच सके । सेंट पीटर्सवर्ग वाली कहानी उसी वर्ग-

की है। उसमें एक ऐसे सैलानीकी कथा दी हुई है जो अद्‌भुत लोककी यात्रा करता है और जहाज़ डूब जानेपर एक अद्भुत सर्पलोकमें जा पहुँचता है। वहाँसे लौटकर वह देवताके प्रसादसे स्वदेश पहुँच अपना हाल बयान करता है। वह बयान मिस्री साहित्य और संसारकी प्राचीनतम कहानी बन गया है। उसे पढ़ते ऐसा लगता है जैसे हम माँझी सिन्दबादकी कहानी पढ़ रहे हों। नीचे वह ज्योंकी त्यों दी जाती है—

विद्वान् अनुचरने कहा, "प्रभु, चित्तको प्रसन्न करें, क्योंकि हम पितृ-देश पहुँच गये हैं। नौकाके अग्रभागमें हमारे आदमी बैठे और डाड़ोंको चलाकर हम यहाँ आ पहुँचे। नौकाका अग्रभाग अब रेतीपर टिक गया है। हमारे सारे आदमी आनन्द मना रहे हैं, एक दूसरेका आलिंगन कर रहे हैं, क्योंकि हमारे अतिरिक्त अन्य भी भली-भाँति घर आ पहुँचे हैं। हमारे जनोंमें-से एक भी नहीं खोया और हम उवाउआतकी दूरतम सीमाओं तक जा पहुँचे थे। हमने सेनमुतके प्रदेशों तकको लाँघ लिया था। अब हम शान्तिपूर्वक लौट भी आये और आज यहाँ पितृदेशमें हैं। सुनें, मेरे प्रभु, यदि आप मुझे सहारा न देंगे तो मेरा कोई सहायक नहीं। जलसे शुद्ध हों, हाथोंपर जल डालें, तब फ़राऊनसे वक्तव्य निवेदन करें और आपके चित्त तथा वक्तव्यमें एकता स्थापित हो, वक्तव्यमें किसी प्रकारका पेंच या अस्पष्टता न हो। इस बातको न भूलें कि जहाँ मनुष्यका मुख उसकी रक्षा कर सकता है वहीं वह उसे ढक दिये जानेका कारण भी बन सकता है। (बातोंसे ही रक्षा भी हो सकती है, विपत्ति भी आ सकती है। मुँह ढककर तब वहाँ अपराधी ले जाये जाते थे। इससे इस पदका अर्थ विपत्तिका आगम है।) अपने हृदयकी चेतनाके अनुकूल आचरण करें, फिर जो कुछ आप कहेंगे उससे मेरा चित्त शान्त होगा।

"अब मैं आपको बताऊँगा कि मुझपर कैसी बीती। मैं ही नहेमकी खानोंके लिए चल पड़ा। डेढ़ सौ हाथ लम्बे और चालीस हाथ चौड़े जहाज़में चढ़ मैं समुद्रमें चला। हमारे जहाज़में डेढ़ सौ मिस्रके सर्वोत्तम

नाविक थे जिन्होंने आकाश-पाताल देखा था और जिनके हृदय सिंहसे भी अधिक साहसी थे। उन्होंने तो यह कहा कि वायु प्रतिकूल न होगी, बल्कि होगी ही नहीं। परन्तु समुन्दरके वक्षपर हमारे उतरते ही वायुका एक प्रबल झोंका आया और हमने किनारे पहुँचनेका जैसे ही प्रयास किया झोंके वेगवान् हो गये और आठ-आठ हाथ ऊँची लहरें उठने लगीं। (नौका टूट गई), मैंने एक तख्ता पकड़कर किसी प्रकार जान बचाई परन्तु शेष सभी नष्ट हो गये, एक न बचा। अकेला, अपने चित्तके सिवा सर्वथा निमित्र तीन-दिन-तीन रात मैं उस तख्तेपर झूलता रहा और तब लहरोंने मुझे एक द्वीपके किनारे फेंक दिया। पेड़ोंकी झुरमुटमें तनिक आराम करनेके लिए मैं पड़ रहा। अन्धकारसे फिर मैं आच्छन्न हो गया। तब मैंने मुँहके आहारकी खोजके लिए अपने पैरोंका उपयोग किया। मुझे अंजीर और अंगूर मिले, कई प्रकारके साग मिले—फल, छुहारे, गरी, तरबूज, मछली, पक्षी—किसी चीज़की वहाँ कमी न थी। मैंने अपनी भूख शान्त की और उससे जो कुछ बच रहा था उसे फेंक दिया। फिर मैंने एक खाई खोदी, आग जलाई और देवताओंके लिए यज्ञके साधन जुटाये।

"सहसा मैंने बिजलीकी कड़क-सी एक आवाज सुनी, जो मैंने समझा, समुद्रकी लहरकी थी। वृक्ष काँप उठे, पृथ्वी हिल गई। मैंने अपने मुँहसे पर्दा हटाया और देखा कि एक सर्प चला आ रहा है। वह तीस हाथ लम्बा था, दो हाथ नीचे लटकती उसकी दाढ़ी थी। उसके लाल रंगपर जैसे सुवर्ण चढ़ा हुआ था। वह मेरे सामने रुका, उसने अपना मुँह खोला और अभी मैं स्तब्ध-संत्रस्त उसकी ओर देख ही रहा था कि उसने कहना प्रारम्भ किया —

"तू यहाँ क्यों आया, तू यहाँ क्यों आया, तुच्छ जीव, तू यहाँ क्यों आया ? यदि तूने यह बतानेमें देर की कि तू यहाँ क्यों आया तो मैं तुझे जता दूँगा कि तू क्या है—या तो फिर तू आगकी लपटकी भाँति लुप्त ही हो जायगा या कुछ ऐसी बात कहेगा जो मैंने पहिले कभी न सुनी या

पहिले कभी न जानी।' तब उसने मुझे अपने मुँहमें ले लिया और ले जाकर अपनी बिलमें विना कोई हानि पहुँचाये रख दिया। मैं सर्वथा सकुशल था, साबुत।

''तब उसने अपना मुँह खोला। मैं फिर भी उसके सामने चुप था। वह बोला—'तू यहाँ क्यों आया, तू यहाँ क्यों आया, तुच्छ जीव, इस द्वीपमें जो समुद्रके बीच है और जिसके तट लहरोंसे घिरे हैं ?''

''बाहुओंको नीचे लटका मैंने उत्तर दिया। मैंने कहा—'फ़राऊनकी आज्ञासे डेढ़ सौ हाथ लम्बे और चालीस हाथ चौड़े जहाज़पर चढ़कर मैं खानोंकी ओर चला। मिस्रके सर्वोत्तम डेढ़ सौ माँझी उसमें सवार हुए, माँझी जिन्होंने आकाश और पृथ्वी देखी थी और जिनके हृदय देवताओंके हृदयसे दृढ़तर थे। उन्होंने कहा कि वायु प्रतिकूल न होगी, वायु होगी ही नहीं। उनमेंसे हर एक दूसरेसे हृदयकी बुद्धि और भुजाओंकी शक्तिमें बढ़ा-चढ़ा था और मैं स्वयं उनमेंसे किसी बातमें कम न था। परन्तु जब इस समुदमें पहुँचे तब तूफ़ान उठा और जब हम तटकी ओर बढ़े तब तूफ़ान और बढ़ा और लहरें आठ-आठ हाथ ऊँची उठने लगीं। मैंने तो एक तख़्ता पकड़ लिया परन्तु शेष नष्ट हो गये, इन तीन दिनोंमें एक भी साथ न रहा और अब मैं यहाँ तेरे सामने हूँ, क्योंकि समुद्रकी एक लहरने मुझे इस द्वीपमें फेंक दिया है।'

''तब वह मुझसे बोला—'डर नहीं, डर नहीं, तुच्छ जीव, तेरा चेहरा दुःखका आवरण न पहिने। अगर तू यहाँ मेरे पास है तो इसका अर्थ है कि देवता तुझे ज़िन्दा रखना चाहता है। वही तुझे इस द्वीपमें लाया है, जहाँ किसी वस्तुकी कमी नहीं और जो सारी अच्छी चीज़ोंसे भरा है। देख, तू इस द्वीपमें चार महीने बिता, महीने पर महीना, तब देशके नाविकोंके साथ एक जहाज़ आएगा तब तू अपने देशको जाएगा और अपने नगरमें ही मरेगा। आओ अब हम बात करें, प्रसन्न हों, जो बात-चीतका आनन्द जानता है वह विपत्तिको सफलतासे झेल सकता है। अब

सुन कि इस द्वीपपर क्या है। यहाँ मेरे साथ भाई और बच्चे हैं—बच्चे और नौकर मिलाकर पचहत्तर सर्प हैं। इनमें मेरी इस कन्याके जोड़ नहीं है, जिसे सौभाग्यने मुझे दिया था परन्तु जिसपर भगवान्की अग्नि गिरी और जो जलकर भस्म हो गई। और यदि तू सशक्त है और तेरा हृदय धीर है तो तू निश्चय अपने बच्चोंको हृदयसे लगाएगा, अपनी पत्नीका आलिंगन करेगा, तू फिर अपने गृहको देखेगा और सबसे उत्तम तो यह है कि तू अपने देशको पहुँच जाएगा, स्वजनोंको भेंटेगा।' तब उसने मुझे प्रणाम किया और मैंने भी उसके सामने पृथ्वी-पर माथा टेका, कहा कि 'अब मुझे तुझसे इस विजयपर यह कहना है—मैं फ़राऊनके सामने तेरा वर्णन करूँगा और उसे तेरी महत्ता बताऊँगा। मैं तुझे विविध सुगन्धित द्रव्य, अंगराग, धूप, नैवेद्य, भेजूँगा जिनका उपयोग हमारे मन्दिरोंमें होता है और जो देवताओंको चढ़ाये जाते हैं। मैं जो कुछ तेरे अनुग्रहसे देख सका उसका भी वर्णन करूँगा और सारी जाति तुझे धन्यवाद देगी। मैं तेरे लिए यज्ञमें गन्धोंकी बलि दूँगा। मैं तेरे लिए पक्षी पकड़ूँगा और मिस्रकी सारी अद्भुत वस्तुओंसे भर-भर मैं तेरे पास जहाज़ भेजूँगा, तुझे—उस देवताके लिए जो दूरदेशके निवासियोंका मित्र है पर जिसे वे निवासी नहीं जानते।'

"मेरी बातपर वह मुसकराया और बोला—'निश्चय तू गन्धोंका धनी नहीं है क्योंकि जिनके नाम तूने अभी गिनाये हैं वे मेरे लिए कुछ भी नहीं हैं। मैं पुन्त देशका स्वामी हूँ और इन चीज़ोंका वहाँ अफ़रात है। परन्तु हाँ, 'हाकोनू' द्रव्यको भेजनेकी बात तू कहता है वह निश्चय इस द्वीपमें अधिक नहीं है, परन्तु एकबार जब तू इस द्वीपको छोड़ देगा फिर उसे न देख सकेगा क्योंकि यह तत्काल लहरोंमें परिवर्तित हो जाएगा।'

"और देख, जैसा कि उसने कहा था, जहाज़ आ पहुँचा। मैं एक पेड़पर यह देखनेके लिए चढ़ गया कि उसमें कौन है। फिर मैं जल्दी

उसे खबर देनेके लिए दौड़ा पर वहाँ जाकर मालूम हुआ कि उसे मुझसे पहिले ही खबर मिल चुकी है। और वह मुझसे बोला—'सुयोग ! स्वदेश की तेरी यात्रा, तुच्छ जीव, निर्विघ्न हो। तेरी आँखें तेरे बच्चोंको देखें और नगरमें तेरा यश फैले। यही तेरे लिए मेरी शुभकामना है।' तब अपनी बाहुओंको उसकी ओर लटकाकर मैं आगे झुका और उसने मुझे सत्, हाकोन्, रस, तेल, और अनेक प्रकारकी और अत्यधिक मात्रामें धूपादि, गजदन्त, कुत्ते, बनमानुस, हरित कपि तथा अनेक अन्य रत्न और क़ीमती वस्तुएँ भेंट कीं। इन सारी वस्तुओंको मैंने उस आये हुए जहाज़में रक्खा और दण्डवत् कर मैंने उसे पूजा अर्पित की। उसने तब मुझसे कहा—'देख, तू अपने देशमें दो महीनेमें पहुँचेगा, तू अपने बच्चोंको हृदयसे लगाएगा और शान्तिपूर्वक अपनी कब्रमें सोएगा।' उसके बाद मैं किनारे, जहाज़की ओर, गया और मैंने माझियोंको पुकारा। मैंने तटपर खड़े होकर द्वीपके स्वामी और उसके निवासियोंको धन्यवाद दिया।

"जब दूसरे महीने उसके कहनेके मुताबिक़ फ़राऊनके नगरमें पहुँचे, तब हम राज-प्रासादकी ओर बढ़े। मैं फ़राऊनके समीप गया और उसे उस द्वीपसे लाई हुई सारी वस्तुएँ प्रदान कीं और उसने एकत्रित जनताके सामने मुझे धन्यवाद दिया। इसीसे उसने मुझे अपना अनुचर बनाया और दरबारके मुसाहिबोंमें मुझे जगह दी। अब मुझे देखें कि कितना सह और देखकर मैं फिर इस तटपर पहुँचा हूँ। मेरी प्रार्थना सुनें, क्योंकि लोगोंकी बात सुनना अच्छा है। किसीने मुझसे कहा, 'मेरे मित्र, विद्वान् हो, तुम्हारी पूजा होगी।' और देखें, मैं यहाँ आ पहुँचा।"

× × ×

ईराक देशमें दजला-फ़रातकी घाटीमें प्राचीनकालमें तीन सभ्यताएँ फली-फूलीं—सुमेरी, बाबुली, असूरी सभ्यताएँ—तीनों एक दूसरीसे गुँथीं, एकके बाद एक उठतीं। सुमेरी नदियोंके संगममुहानोंपर, ईराकके

दक्खिनमें आजसे कोई पाँच हज़ार साल पहले, बाबुली, उससे कुछ उत्तर बाबुल नगरके इर्द-गिर्द, लगभग चार हज़ार साल पहले, असूरी, दजला-फ़रातकी उपरली घाटीमें, क़रीब तीन हजार साल पहले। सुमेरियोंने उन सभ्यताओं-को लिखावट दी, कीलनुमा अक्षर दिये, बाबुलियोंने लिखा और असुरोंने लिखे साहित्यकी रक्षा की।

पीछे आनेवाली सभ्यता अपनी पुरखा सभ्यताका विरसा सम्हालती गई। सुमेरमें छोटे-छोटे आज़ाद नगरोंके अपने-अपने राज थे जहाँ पहले पुरोहित-राजा राज करते थे। बाबुलका जब बादमें दबदबा बढ़ा तब वहाँ एक नई सामी जातिके सम्राट् हम्मुराबीने पहला बाबुली साम्राज्य खड़ा किया और अपनी रियायाको पहली बार अधिकार-क़ानून दिये। पर वहाँ सबसे ज़्यादा ताक़तवर असुर हुए जिनकी विजयों और प्रतापका ज़िक्र उस कालके संसारके साहित्यमें हुआ। उनका राज एक ओर फ़ारस दूसरी ओर मिस्र तक फैला। सारगोन, असुर नज़ीरपाल, और असुर बनिपाल इतिहासमें प्रसिद्ध हुए। उनकी जातिका नाम असुर था, प्रधान देवता और नगरका नाम असुर था। पहली बार उन्होंने वैज्ञानिक रीतिसे सेनाका संगठन किया। लड़ाईमें घोड़ों और घोड़ेजुते रथोंका इस्तेमाल किया। वे दाढ़ी और सिरपर लम्बे बाल रखते थे, ख़ूँख़ार और ताक़तवर थे, जब कोई देश जीतते वहाँके मर्दोंको तलवारके घाट उतार देते या ग़ुलाम बना लेते, औरतों और मवेशियोंको हाँक ले जाते, समूची रियायाको उखाड़कर दूसरी जगह बसाते। पर दो बातें असुरोंने बड़े मार्केकी की—एक तो उन्होंने कलाका निर्माण किया, सब जगह उनके महल-इमारतें बनानेवाले राजों-कारीगरोंकी माँग हुई, संसारके सारे साहित्योंमें उनका कलावन्त-शिल्पी और असुर मय विख्यात हुआ। दूसरे उनके राजा असुर बनिपालने गीली ईंटोंपर कीलनुमा अक्षरोंमें लिखे प्राचीन सुमेरी-बाबुली सभ्यताके साहित्यको अपने पुस्तकालयमें इकट्ठाकर उसकी रक्षा की।

हालमें पुराविदोंने उसे खोद निकाला है, जिससे हमें सुमेरी-बाबुली-असूरी सभ्यताओंकी जानकारी हुई।

उन्हीं ईंटोंसे हमने जाना है कि वहाँ सबसे पुराने ज़मानेमें हर नगरके अपने-अपने देवता थे और जब-जब वे नगर एक दूसरेपर हावी होते उनके देवता भी उसी तरह प्रधान हो जाते। प्राचीन सुमेरी नगरोंके नाम थे—एरिदू, ऊरु, लारसा, उरुक, नुप्पुर, इसिन, कीश, कुतू, बाबिलू (बाबुल), बारसिप (बोरसिप्पा), सिप्पर और अक्काद। बादमें उत्तरमें असुरोंके नगर बसे—असुर (अश्शुर), निनुआ (निनेवे), अरबैल (अरबेला) और ईरान।

पहले तीन देवता प्रधान हुए—अनु, एन्लिल और इया। अनु आकाश या स्वर्गका देवता था, एन्लिल पृथ्वीका और इया जलका। एक दूसरा दल तीन देवताओंका और था—सिन (चन्द्रमा), शमश (सूरज), और इश्तर देवीका। धीरे-धीरे जब बाबुलका प्रभुत्व बढ़ा तब उसका देवता मरदुक भी देवताओंमें प्रबल हुआ। उसने अप्सूके मरनेपर उसकी रानी तियामत (अकाल और सूखेकी अजगरनुमा देवी) को वज्र मारकर देशके जलका उसकी गुंजलकोंसे रक्षा की। देवता नबू पहले मरदुकका पुत्र मात्र था, बादमें प्रबल हो गया। इसी प्रकार पिछले कालमें एन्लिलके बेटे निनिबका भी रुतबा बढ़ा। नरगल नरकका राजा था, सुमेरियों—बाबुलियोंका यम, जिसकी पत्नी एरेश-कीगल नरककी स्वामिनी थी। सिनका पुत्र नुस्कू प्रकाशका देवता था, जैसे गिर्रू अग्निका। रम्मन या अदाद बादलों-विजलीका देवता था, वर्षाका तुम्मूज़ देवी इश्तरका पति था जिसके मरसियासे पुराना बाबुली साहित्य भरा पड़ा है। असुर (अश्शुर) असुरजातिका प्रधान देवता था। उसका मन्दिर असुर नगरमें था।

इन देवताओंके आपसी राग-द्वेष प्रबल थे और इनके बीच अक्सर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन लड़ाइयोंमें कुछ मर भी जाया करते थे। इनके भिन्न-भिन्न परिवार थे और इन परिवारोंका आचरण मानव गृहस्थों-

का-सा होता था। देवताओंके क्रोधका एक दिलचस्प उदाहरण सुमेरी-बाबुली साहित्यमें सुरक्षित है। देवता एन्लिलने आदमियोंके पापसे चिढ़कर देवताओंकी सभा की और दण्डके रूपमें जल-प्रलय द्वारा सृष्टिका नाश कर देनेका निश्चय किया। देवता इयाने उसका भेद शुरुप्पक नगरके रहनेवाले मानव ज़िउसुद्दू (न्उत्नपिश्तिम-अत्रखसीस) को बताकर मानव जातिकी रक्षा की। जल-प्रलयकी वह कथा, जिसे ज़िउसुद्दू अपने वंशज गिल्गमेशसे कहता है, इस प्रकार है—

"मैं तुझसे एक भेदकी बात कहूँगा, और तुझसे देवताओंकी रहस्य मंत्रणा तक कह दूँगा। मगर शुरुप्पकको तू जानता है, उसे जो फरात (फरातू) के तटपर है—वह नगर पुराना हो गया था, और उसमें बसने वाले देवता—महान् देवताके चित्तमें हुआ कि जल-प्रलय करें····

"दिव्य स्वामिन्—नेक देवता एंकी—उनके विरुद्ध था। उसने उनकी मंत्रणा एक नरकटकी झोपड़ीको सुनाकर कही—नरकटकी झोपड़ी ! दीवार, ओ दीवार ! सुन, हे नरकटकी झोपड़ी। समझ, ओ दीवार !"

यह इस प्रकार झोपड़ीके बहाने इसलिए कहा गया कि ज़िउसुद्दू, जो उसी झोपड़ीमें रह रहा था, सुन ले। फिर देवताने खुलकर उससे कहा—

"शुरुप्पकके मानव, उबर्दुदूके पुत्र, घरको गिरा डाल, एक नौका बना, माल असबाब छोड़ दे, जानकी फ़िक्र कर। जायदादको तोबा कर और (अचानक मर नहीं) ज़िन्दगी बचा ले ! सारे जीवोंके बीज चुनले और नौकाके बीच ला रख।"

ज़िउसुद्दूने नौका बनाई और उसे जीव-बीजोंसे, भोजन आदिसे भर लिया और नगरवासियोंसे वह बोला—"शक्तिमान पवन देवता एन्लिल उससे घृणा करता है। इससे वह ज़िउसुद्दू उनके बीच नहीं रहेगा। जाते समय उसने झूठ कहा कि देवता उनपर कृपा करेंगे, रहमत बरसाएँगे। उसने अपने परिवारको फिर नावमें चढ़ा उसे सब ओरसे बन्द कर लिया।

और तब भयानक तूफ़ान आया और काले विकराल मेघोंके बीच स्वयं देवताओंको समस्त नागरिकोंने मशाल चमकाते देखा।

"भाई-भाईको न पहचान पाता था। शून्य और आदमीमें कोई फ़र्क नहीं था (ये लोग दिखाई नहीं पड़ते थे)। स्वयं देवताओंको जलप्लावनसे भय हो चला। वे सरके। वे देवता स्वर्गमें जा पहुँचे। देवता कुत्तों-की भाँति भयसे काँप रहे थे, स्वर्गकी देहलीमें एक दूसरेसे चिपटे। देवी इनन्ना (सुमेरी मातृदेवी, सामियोंकी इश्तर अथवा अस्तार्ते) प्रसव-पीड़िता नारीकी भाँति चीख़ उठी। वह मधुभाषिणी देवपत्नी रो-रोकर देवताओंसे कहने लगी—'दिन मिट्टी हो जाय क्योंकि मैंने देवसभामें अनुचित कहा! भला क्यों देवताओंकी सभामें मैंने कुवाच्य कहा! क्यों अपनी ही प्रजाके लिए तूफ़ान वरपा किया? मैंने क्या अपनी प्रजाको इसीलिए जना कि उनसे मछलियोंके अण्डोंकी तरह समुद्र भर जाय?' "

छह दिन और छह रात तूफ़ान और जलकी बाढ़ उमड़ती रही और जलकी सतहपर बहता ज़िउसुद्दू अपने साथियोंके लिए ज़ार-ज़ार रोता रहा। पर्वत शृंखलाके ऊँचे शिखर मात्र जलके ऊपर थे। इन्हींमें एकसे नौका जा लगी और सप्ताह भर वहीं लगी रही। ज़िउसुद्दू कहता गया—

"सातवें दिन मैंने एक कबूतर निकाला और उड़ा दिया। कबूतर उड़ गया। वह चहुँओर उड़ता रहा पर कहीं उतरनेको जगह न मिली और वह लौट आया। मैंने एक अबाबील निकाली और उड़ा दी। अबाबील उड़ गई। वह चहुँओर उड़ती रही पर कहीं उतरनेको जगह न मिली और वह उड़ती हुई लौट आई। मैंने एक काग निकाला और उड़ा दिया। काग उड़ गया। और उसने घटते हुए जलको देखा। उसने (दाना) चुगा, जल हेला, डुबकियाँ लगाईं, लौटकर नहीं आया। मैंने (हविष) निकाला और कुर्बानी की (यज्ञ किया) चारों हवाओंके प्रति। पर्वतकी उत्तुङ्ग शिलापर मैंने आपान (मदिरा) चढ़ाया, और सात बोतल रख दिये;

उनके नीचे बेंत, दारू और धूप-अगुरु बिखेरे। देवताओंने सुरभि सूँघी, देवताओंने प्रभूत गन्ध ली; देवता यज्ञके स्वामीके चारों ओर इकट्ठे हो गये। अन्तमें देवी (इनन्ना) ने पहुँचकर वह ग्रैवेयक (हार) उठाकर, जो देव अनने उसके कहनेसे बनाया था, कहा—'देवताओ, जैसे मैं अपने गलेकी नील मणियोंको नहीं भूलती, उसी प्रकार मैं इन दिनोंको नहीं भूल सकती। इन्हें सदा याद रखूँगी। देवता यज्ञमें पधारें, परन्तु एन्लिल न आवे, इस यज्ञका भाग वह न पावे, क्योंकि उसने कहना न माना, क्योंकि उसने जलप्रलयकी सृष्टि की और नाशके लिए मेरी एक-एक प्रजा गिन ली।' तब देवता एन्लिलने नाव देखी। एन्लिल क्रुद्ध हो उठा। उसने पूछा कि किस प्रकार कोई मर्त्य (उस प्रलयसे) बचकर निकल गया? श्रीमान् और शिष्ट भूदेव एंकीने उससे तर्कपूर्वक कहा—

"'देवताओंके देवता, वीर, क्यों, क्यों तूने कहना नहीं माना और बरबस प्रलय की? पाप पापीके ऊपर डाल, सीमोल्लंघनका अपराध सीमा लाँघनेवालेपर। कृपाकर, जिससे वह सर्वथा उच्छिन्न (एकाकी) न हो जाय, नितान्त विभ्रान्त (मूढ़) न हो जाय। तेरे जलप्रलय लानेसे अच्छा है कि सिंह भेजकर प्रजाकी संख्या कम कर दे। तेरे जलप्रलय लानेसे अच्छा है कि भेड़िया भेजकर प्रजाकी संख्या कम कर दे।'

"क्रुद्ध देवता शान्त हो चला; एंकी कुछके किये पापोंका दण्ड बहुतों-को देनेवाले उस देवकी भर्त्सना करता गया। अन्तमें एन्लिल नौकाके भीतर चला आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे बाहर लाया, स्वयं मुझे। वह मेरी पत्नीको भी बाहर निकाल लाया और मेरी बगलमें उससे घुटने टेकवाये (प्रणाम कराया)। उसने हमारे माथेका स्पर्श किया और हमारे बीच खड़े होकर हमें आशीर्वाद दिया—'पहले ज़िउसुद्दू मनुष्य था पर अबसे ज़िउसुद्दू और उसकी पत्नी निश्चय ही हमारी तरह देवता होंगे! ज़िउसुद्दू और उसकी पत्नी दूर नदियोंके मुहानेमें वास करेंगे।'"

यह उस जलप्रलयकी कहानी है जो सुमेर यानी दजला-फ़रातके मुहाने के नगरोंमें ईसासे करीब ३५०० साल पहले घटी। शैलाबकी वह रोंगटे खड़े कर देनेवाली कहानी ईसासे प्रायः ढाई हज़ार साल पहले उन ईंटोंपर लिख ली गई थी जो असुर बनिपालके नगर निनेवेके ग्रन्थागारमें मिली है। यह कहानी कथाके भीतर कथा है जो गिल्गमेश नामक सुमेरी-बाबुली महाकाव्यमें लिखी है। इस कहानीको प्रायः सभी प्राचीन जातियोंने अपनी-अपनी धर्म पुस्तकों और साहित्योंमें लिख लिया। इंजीलकी जल-प्रलयकी यहूदी कहानीका नायक नूह यह ज़िउसुद्दू ही है, जैसे वही हिन्दू जल-प्रलयकी कहानीका नायक मनु भी है।

सुमेरी-बाबुलियोंका भी मिस्रियोंकी ही भाँति परलोकमें विश्वास था, इससे उनको क़ब्रोंमें मृतकोंके साथ आरामकी सभी चीज़ें दफ़नाई जाती थीं। ऊरके राजाओंकी क़ब्रोंमें उनके दास-दासी, खच्चर आदि ज़िन्दा ज़हर पिलाकर अपने मालिककी लाशके साथ दफनाये गये थे। उन क़ब्रोंसे इन लाशोंकी ठठरियाँ, रथ, बाजे, क़ीमती जवाहरात, सोने-चाँदीकी चीज़ें मिली हैं। ज़ाहिर है कि तबकी ज़िन्दगी ग़रीबोंके लिए बड़ी मुश्किल और सांसतकी थी।

× × ×

ईरान मध्य एशियाका पश्चिमी भाग है। ईराक उसके पच्छिममें फ़ारसकी खाड़ीसे उत्तर तुर्की और अरमनी पहाड़ों तक सीरियासे मिला-जुला फैला हुआ है। ईराकका उत्तरी भाग सीरियासे मिलकर असुर या असुरिया देशका निर्माण करता था। उसके दक्खिन दजला और फ़रात नदियोंके बीच बाबुलका साम्राज्य था, और उससे भी दक्खिन नदियोंके मुहानेपर सुमेरियोंकी बस्तियाँ थीं। यह समूचा इलाक़ा एशियाका पच्छिमी भाग है। मिस्र, अफ़्रीकाके उत्तरमें, भूमध्यसागरके किनारे है। सुमेरके लोग किस जातिके थे यह ठीक-ठीक कहना आज नामुमकिन है पर उनकी

ताक़तको ख़त्मकर जिन बाबुलियों, असुरों और ख़ल्दियोंने अपने राज क़ायम किये उन्हें आज सामी कहा जाता है। प्राचीन मिस्री इसी प्रकार हामी कहलाते थे। ईरानी, इनके विपरीत, आर्य नस्लके थे और आर्य देवताओंको पूजते थे।

प्राचीन ईरानियोंकी धर्म पुस्तक (अवेस्ता) है जिसके पढ़नेसे उनके प्राचीन धर्म और विश्वासका पता चलता है। भारतके आर्योंकी ही भाँति, जिनके प्राचीन ईरानी भाई-विरादर ही थे, वे प्राकृतिक देवताओं—द्यौस्, पृथ्वी, अग्नि, वरुण, असुर आदिकी पूजा करते थे। बादमें ज़रथुस्त्रने उस धर्ममें अनेक सुधार किये जो एक नई दृष्टिकोणके सूचक थे। ज़रथुस्त्रने ईरानियोंके जानवरों और आदमियोंकी क़ुर्बानी और होम (सोम) के विरुद्ध विद्रोह किया और प्राचीन धर्मको एक नई आचार-प्रधान व्यवस्था दी। प्रतापी असुर देवताको नियामक मान ईरानियोंकी व्यवस्था और आचारके देवता वरुणको उसने असुर महान् या अहुरमज़्दाकी उपाधि दी और उसे सारे देवताओंमें ऊँचा माना। ऋत या सत्यको उसने विशेष मान दिया और असत्य या झूठके खिलाफ़ जंग छेड़ दिया। प्रकाश और अन्धकार या ऋत और मिथ्याकी इस लड़ाईमें सत्यकी विजयकी उसने घोषणा की। उसके नये सुधारवादी आन्दोलनके बावजूद प्राचीन ईरानियोंके देवता अहुरमज़्दा और मिथ्र (ऋग्वेदका सूर्य) नये धर्ममें बने रहे। ज़रथुस्त्रका पहला चेला उसका भाई बना, फिर धीरे-धीरे हख़मनी सम्राट् भी उसके प्रभावमें आये। हख़मनी प्रभुताका सिकन्दर द्वारा दाराकी हारसे जब ३३० ई० पू० में लोप हो गया तब क़रीब अगले सौ वर्षों तक ईरानपर ग्रीकोंका राज रहा। २११ ई० में ससानी वंशने ज़रथुस्त्रके धर्मको ईरानका राजधर्म बनाकर उसकी फिरसे प्रतिष्ठा की और जब तक ६४० ई० में उस वंशका इस्लामकी सेनाओं द्वारा नाश न हो गया तबतक ज़रथुस्त्री धर्मका देशमें बोलबाला बना रहा। ईरानके बरबस मुसलमान बना लिये जानेपर अनेक ईरानियोंने अपने अग्निपूजक ज़रथुस्त्री धर्मके

साथ भारतमें शरण ली और यहाँ वे पारसी कहलाये। बस ये पारसी और ईरानके ग़बर अब उस प्राचीन धर्मके माननेवाले बच रहे हैं।

प्राचीन ईरानमें देवताओंके अलावा पितरोंकी भी पूजा होती थी और उनके पराक्रमकी कथा गाथाओंमें गाई जाती थी। उन्हीं महान् वीरोंकी कहानी फ़िरदौसीने अपने महाकाव्य 'शाहनामा'के आरम्भमें बड़े गौरव-से कही है। रुस्तम, सोहराब आदि उन्हीं वीरोंमें-से थे।

प्राचीन मिस्रका शंकर इख़नातून : १२ :

मज़हब चलानेवाले राजाओंमें पहला नाम इख़नातूनका है। जब-जब ऐसे राजाओंके नाम गिने जायँगे पहला नाम इस इख़नातूनका ही होगा। इख़नातूनका नाम संसारके बुद्धिमान राजाओं सुलेमान, अशोक, हारूँ अलरशीद और शर्लमानके साथ लिया जाता है। फिर दिलचस्प बात यह है कि वह इन बाक़ी सभी राजाओंसे पहले हुआ, ईसासे क़रीब १३०० साल पहले, आजसे कोई ३३ सदियों पहले।

और इख़नातूनने जंग नहीं जीता, लड़ाइयाँ नहीं लड़ीं, अपने राजकी हदें बढ़ानेमें इंसानियतको बरबाद नहीं किया। उसने जीता ज़रूर, पर कमज़ोर इंसानको नहीं, अजेय देवताओंको जीता, उनके ताक़तवर पुजारियोंको जीता। उसने मज़हब चलाया, नया मज़हब, मिस्रके पुराने धर्मको हटाकर, पुराने अनगिनत देवताओंके लश्करको मिटाकर। और अपना वह मज़हब उसने तब चलाया जब अभी आदमी बालिग़ भी नहीं कहलाता, कुल १५ सालकी उम्रमें। इसके लिए उसे पागल कहा गया, "अतूनका अपराधी"। मगर न तो वह पागल था, और न, जैसा ऐसी हालतमें अक्सर हो जाया करता है, हत्यारेके छुरेसे वह मरा। हाँ, पर वह धर्मका दीवाना ज़रूर था, और दीवाना ही शायद वह मरा भी। पर सच वह पागल न था, गो पागल उसे कहा ज़रूर गया है।

इख़नातून शानदार पिता और रोबीली माताका बेटा था। पिता आमेनहोतेप तीसरेकी रगोंमें शायद सीरियाके मितन्नी आर्योंका ख़ून बहता था, और माता तीईकी नसोंमें जंगली जातियोंके रकतकी रवानी थी। इख़नातूनकी आत्माकी बेचैनी इससे स्वाभाविक थी। दो ताक़तें इस

तरह मिलकर उस बालकमें जाग उठीं और उसने अपने मुल्कके मज़हब की काया पलट दी।

इख़नातूनके पिता आमेनहोतेपने जब गद्दी छोड़ी तब बेटा बस ७-८ सालका था। १५ सालकी उम्रमें उसने अपना वह इतिहास प्रसिद्ध धर्म चलाया जो इंजीलके पुराने नबियोंके लिए अचरज बन गया। २६–२७ सालकी उसकी उम्र थी जब उसकी तूफ़ानी ज़िन्दगीका अन्त हो गया। पर १३ और २६ सालके बीचके अपने १३ ही बरसके जीवनमें उसने वह किया जो सौ-सौ बरस पककर जीनेवाले नहीं कर सके।

इख़नातूनने मिस्रके पुराने तवारीख़को देखा, देवताओं और अपने पुरखे फ़राऊनोंके लम्बे इतिहासको। देवताओंकी भीड़ और उनके पुजारियोंकी कुव्वतसे बेबस और नाचीज़ होते अपने पुरखोंको देख उसके मनमें बड़ी व्यथा जगी। बचपनकी ज़िन्दगीमें सपनोंका ताँता बँध जाता है, कल्पना आसमानमें बेहद पर मारा करती है। इख़नातूनके मनके आसमानकी हदें न थीं और उसकी कल्पनाकी उड़ान क़ाबूके बाहर थी। जब-जब वह सोचता देवताओंकी वह भीड़ उसे बौखला देती और उसकी अराजकतामें, वह चाहता, एक व्यवस्था बन जाय। पुरखोंकी राजनीतिमें उत्तरी अफ़्रीकाके स्वतन्त्र इलाक़ोंको, दूर पच्छिमी एशियाके राज्योंको उसने मिस्रके फ़राऊनोंकी छायामें सिकुड़ते और हुकूमतके एक सूतमें नथते देखा था, और वह राज़की बात उसके मनमें बैठ गई।

उसने कहा—जैसे नील नदीके निकाससे फ़िलिस्तीन और सीरिया तक एक फ़राऊनका दबदबा है, क्यों नहीं देवताओंकी झूठी भीड़की जगह फ़राऊनी साम्राज्यकी सीमाओं तक एक देवताका राज व्यापे, बस एककी ही पूजा हो। चिंतनके समय उसकी नज़र देवताओंकी भीड़ पारकर सूरजकी गोलाईसे जा टकराई। उस चमकते आगके गोलेने उसकी आँखें चौंधियाँ दीं। नज़र उस चमकके परे न जा सकी। इख़नातूनने जाना कि उसके

चिन्तनका जवाब मिल गया, दिलके पुराने घावका मरहम, और उसने सूरजको अपना इष्ट देव बनाया।

पुरानी जातियोंके विश्वासमें सूरजके गोलेने बराबर एक कुतूहल पैदा किया था और उसे जाननेकी कोशिश सभी जातियोंकी ओरसे हुई थी। ग्रीकोंका प्रोमेथियस् उसीकी खोजमें उड़ा था, हिन्दू पुराणोंके जटायुका भाई सम्पाती उसी अर्थ सूरजकी ओर उड़ा था और अपने पंखोंको झुलसाकर ज़मीनपर लौटा था। और उन उड़ानोंका नतीजा हुआ था आग की जानकारी।

पर कोई यह जान न पाया कि सूरजके पीछेकी हस्ती क्या है। पर लगा सबको ही था कि हस्ती है कोई उसके पीछे, गो वे उसको जानते नहीं। ऐसा ही हमारे उपनिषदोंको भी लगा था और उन्होंने सूरजके बिम्ब या गोलेको ब्रह्मकी आँख कही थी।

इख़नातूनको भी कुछ ऐसा ही लगा, कि सूरजके गोलेके पीछे कोई ताक़त है ज़रूर, गो वह उस ताक़तको नहीं जानता, उपनिषदोंके ऋषियोंकी ही तरह। पर उन ऋषियोंसे कितना पुराना था वह, क़रीब हज़ार साल पुराना! इख़नातूनने निश्चय किया कि कुदरतका सबसे महान्, प्रकृतिका सबसे सत्तावान, दुनियाका सबसे सारवान सत्य सूरजके गोलेके पीछेकी वह हस्ती है जिसे हम नहीं जानते। पर न जानना सत्ताके न होनेका सबूत नहीं है, अव्यक्तकी पूजा तो हो ही सकती है चाहे उसकी मूरत न बन सके। और सत्ता जितनी हो अमूर्त होती है, जितनी ही जानकारीके दायरेमें नहीं समा पाती उतनी ही अधिक वह व्यापक होती है, उतनी ही वह सारवान होती है, उतनी ही महान्। और जो उस अनजानी शक्ति तक हमारी मेधा नहीं पहुँच पाती, हमारी बुद्धि उसे नहीं पहचान पाती, उसका नूर, उस आगके दहकते गोले सूरजके रूपमें, तो दुनियापर बरस ही रहा है, हरचन्द ज़ाहिर है ही। वही सूरजके गोलेके पीछेकी हस्ती इख़नातूनके विश्वासकी दैवी शक्ति बनी, उसीको उसने पूजा।

पर देवता या हस्तीका बोध हो जाना एक बात है, उसका प्रचार बिलकुल दूसरी। ज्ञान जब इलहाम होता है, सत्यका जब दर्शन होता है, तब सवाल यह उठता है कि जानकारीकी सच्चाई, इलहामका ज्ञान अपने तक ही सीमित रक्खा जाय या दुनियामें इसे बाँटा जाय, उसका लाभ दूसरों-को भी कराया जाय। बुद्धने जब ज्ञान पाया तब यही सवाल उनके सामने उठा और उन्होंने उसे दूसरोंमें बाँटनेका निश्चय किया। इतना ही नहीं बौद्ध धर्ममें जो अकेले निर्वाण पानेकी कोशिश है उससे समझदारोंने हीन-यान कहा यानी छोटी नाव जिसपर केवल एक ही इंसान अपने स्वार्थका टोकरा लेकर चढ़ सकता है। पर उसी धर्ममें जब उस बोधिसत्त्वकी समझ जगी, जिसने कहा कि जब तक एक जनकी भी पहुँचके बाहर निर्वाण रह जायगा तब तक मैं निर्वाण न लूँगा, तब और इसीसे वह दृष्टि महायानकी दृष्टि कहलाई जिसके बड़े जहाज़पर संसारके सारे प्राणी चढ़कर भवसागर पार कर सकते हैं।

जो पाता है वह देकर ही रहता है। इख़नातूनने पाया था और पाई हुई चीज़का अकेले तक ही इस्तेमाल उसे स्वार्थपर लगा और उसने तय किया कि वह देकर ही रहेगा। मगर मिस्रकी दुनिया तकको नये सत्यको पहुँचना कुछ आसान न था, सामने अन्धविश्वासोंकी, परम्पराकी, देवताओंकी, उनके शक्तिमान पुजारियोंकी मोटी मज़बूत और अटूट दीवार खड़ी थी। पर वैसी ही अटूट इख़नातूनकी आस्था भी थी, उतनी ही दृढ़ उसका संकल्प भी था। और उसने उससे लोहा लेनेका दृढ़ निश्चय कर लिया। यह नयेका पुरानेके विरुद्ध विद्रोह था। नये और पुरानेमें घमासान छिड़ गया।

इस लड़ाईमें उसकी-सी ही महाप्राण उसकी बहन और बीबी नेफ़ेतेते कमर कसकर मददको उसकी बगलमें खड़ी हुई। रूहों और नरकके देवता ओसिरिस और उसकी बीबी ईसिस, प्तेह और सेतरा और आमेन आदि देव-ताओंकी भारी क़तारको सूरजके पीछेकी हस्ती वाले व्यापक देवताके ज्ञानसे इख़नातूनने बेधना चाहा। वह काम और मुश्किल इस वजहसे हो गया था

कि रा और आमेन सूरजके ही नाम थे जिसकी पूजा सदियों पहलेसे मिस्रमें होती आयी थी और इसीलिए सूरजके नये देवता अतोनको रा और आमेनके विश्वासी लोगोंको समझा पाना ज़रा मुश्किल था। यह बता पाना और कठिन था कि सूरज या सूरजका गोला अतोन स्वयं वह विश्व-व्यापी देवता नहीं है, उसके पीछेकी शक्ति वह हस्ती है जिसका सूचक सूरजका गोला है और जो स्वयं दुनियाकी हर चीज़में रम रहा है, जो अकेला है, फ़क़त अकेला और जिसके परे दूसरा कुछ नहीं है, जो अपने ही नूरसे रोशन है; जो चराचरका कर्ता है। शंकराचार्यके इस अद्वैत ब्रह्मका निरूपण, इंजील-की पुरानी पोथियोंके नबियोंके एकेश्वरवाद, मुहम्मदके एक अल्लाहके इलहाम होनेके सदियों-सदियों पहले इख़नातून इन महात्माओंके विचारोंके बीजका आदि रूपमें प्रचार कर चुका था। और तब वह केवल १५ सालका था। ३० सालकी उम्रमें सिकन्दरने जहान् जीता, ३० सालकी उम्रमें शंकराचार्यने अपने वेदान्तसे भारतकी दिग्विजय की, उनकी आधी, १५ सालकी, उम्रमें इख़नातूनने अपने अतोनके एकेश्वरवादकी महिमा गाई। एक भगवान्को सारे चराचरके आदि और अन्तका कारण माननेवाला इतिहासमें यह पहला एकेश्वरवादी धर्म था।

पुराने देवताओंके पुजारियोंने विद्रोह किया। पुराने राजाओंकी राजधानी थीविज़ थी। इख़नातूनने सूरजके नामपर अपनी नई राजधानी बसाई और उस राजधानीके बाहर वह कभी न निकला। राजधानी आख़ेतातेनकी चहारदीवारीके भीतर बने रहना उसके लिए आसान इसलिए और भी हो गया कि उसने अशोकसे हज़ार बरस पहले यह तय कर लिया था कि वह देश जीतने और लड़ाई लड़नेके लिए अपनी नगरीसे बाहर नहीं जायगा। वह गया भी नहीं। दूरके सूबोंने करवट ली पर वह हिला नहीं, अपने नये मज़हबका प्रचार करता रहा।

पुराने देवताओंके पुजारियोंने कुफ़्रका फ़तवा दिया और उसने, जवाबमें, उनकी माफ़ी छीन ली, उनकी दौलत ले ली, उनके देवताओंके इलाक़े ले लिये। इस सम्बन्धमें इख़नातूनने काफ़ी सख़्तीसे काम लिया और ख़ासी कट्टरता दिखायी। उसने पुराने देवताओंकी पूजा साम्राज्यमें बन्द कर दी और उनके मन्दिर वीरान कर दिये। उसके अपने देवता अतोनके दुश्मन देवता आमेनके लेखोंमें जहाँ-जहाँ नाम लिखे थे उसने सर्वत्र मिटवा दिये। उसके पिताका नाम आमेनहोतेप था जिसमें 'आमेन' शब्द लगा हुआ था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ-जहाँ पिताका नाम आया था वहाँ-वहाँ उन पुराने देवताका नाम होनेके कारण पिताका आधा नाम भी मिटाना पड़ा! अफ़सोस, पर कट्टरताका यह नतीजा तो होकर ही रहता है!

१५ सालके उस बालक इख़नातूनका वह एकेश्वरवादका सिद्धान्त तो निश्चय १३ वर्षके बाद उसके मरनेपर उसके शत्रुओंने मिटा दिया, पर धर्म और दर्शनके इतिहासमें दोनों अमर हो गये—इख़नातून भी उसके मज़हबका सिद्धान्त भी।

इख़नातूनकी दिमाग़ी सूझसे बढ़कर अपने नये धर्मके प्रचारकी, इन्क़लाबकी उसकी भावना थी, और उससे बढ़कर उसके प्रचारके लिए प्यार भरे शब्दोंका उसका व्यवहार था। इख़नातून कवि भी था और अपने देवताके जमालको जिन पंक्तियोंमें उसने व्यक्त किया है वे उपनिषद्के उद्गारोंमे कम चमत्कारी नहीं हैं, और अशोककी तरह हियासे निकलकर सुनने और पढ़नेवालोंकी हियामें जमकर बैठ जाती थीं। तेल एल अमरना की चट्टानोंपर खुदी इख़नातूनकी सूरज या आतोनके पीछेकी हस्तीके जलवेमें बनाई कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

जब तू पच्छिमी आसमानके पीछे डूब जाता है,
जगत् अँधेरेमें डूब जाता है, मृतकोंकी तरह;
हर सिंह तब अपनी माँदसे निकल पड़ता है;

सांप अपनी बिलोंसे निकल पड़ते हैं, डसने लगते हैं;
अंधकारका राज फैल चलता है, सन्नाटा दुनियापर अपना साया
डालता चला जाता है।

× × ×

चमक उठती है धरा जब तू क्षितिजसे निकल पड़ता है।
जब तू आसमानकी चोटीपर अतोनकी आँखसे दिनमें देखता है,
अँधेरेका लोप हो जाता है।
जब तेरी किरनें पसरने लगती हैं, इंसान मुसकरा उठता है,
जाग उठता है, अपने पैरोंपर खड़ा हो जाता है, तू ही उसे
जगाता है।
अपने अंगोंको वह धो डालता है, लेबासको पहन लेता है;
फिर उगते हुए तुम्हारे लाल गोलेको हाथ उठाकर पूजता है,
तुमको माथा टेकता है।

× × ×

नावें नीलकी धारामें चल पड़ती हैं, धाराके अनुकूल भी विप-
रीत भी।
सड़कें और पगडंडियाँ खुल पड़ती हैं, कि तू उग चुका है।
तुम्हारी किरनोंको परसनेके लिए नदीकी मछलियाँ उछल पड़ती हैं,
और तुम्हारी किरनें फैले समंदरकी छातीमें कौंध जाती हैं।
तू ही माँके गर्भमें शिशुको सिरजता है,
आदमीमें आदमीका बीज रखता है,
तू ही कोखमें शिशुको प्यारसे रखता है जिससे वह रो न पड़े,
धाय है तू कोखके बालकके लिए।
और तू ही जिसे सिरजता है उसमें साँस डालता है,
और जब वह माँकी कोखसे धरापर गिरता है,

उसके कण्ठमें आवाज़ डालता है,
उसकी ज़रूरतें पूरी करता है।

× × ×

तेरे कामोंको भला गिन कौन सकता है ?
और तेरे काम हमारे नज़रसे ओझल हैं, नज़रसे परे।
और मेरे देवता, मेरे मात्र देवता, जिसकी शक्तिका कोई दावेदार नहीं,
तूने ही यह ज़मीन सिरजी, अपने मनके मुताबिक़।

× × ×

तू मेरे हियेमें बसा है, तुझे कोई दूसरा जानता भी नहीं,
अकेला मैं, बस मैं तेरा बेटा इख़नातून, जान पाया हूँ तुझे।
और तूने ही उसे इस लायक़ बनाया है कि वह तेरी हस्तीको जान ले।

बाबुलका व्यापार

: १३ :

जिस प्रकार आल्प्स पार करनेपर यूरोपियनको एक नई दुनियाका अनुभव होता है, उसी प्रकार एशियायी पर्यटकको भी फ़ारस, मीडिया या अजेमी ईराककी पहाड़ी भूमिसे उतरकर अरबी ईराककी राजधानी आधुनिक बग़दाद या प्राचीन बाबुलके मैदानमें पहुँचनेपर होता है। वहाँके निवासियोंके रस्म-रिवाज, उनके रहनेके तरीक़े, पहनावे सभी कुछ नये होते हैं। एशिया और मीडियाकी पोशाक यद्यपि लम्बी होती है फिर भी आदमीके बदनपर चुस्त और सही रहती है परन्तु वहाँ बाबुलमें इसके विरुद्ध पोशाक ढीली-ढाली नीचे तक लटकती है। काली मेढेकी खालकी टोपीके स्थानपर ऊँची पगड़ीके अनेक घेरे होते हैं और छुरी लगी कमरबन्द-की जगह क़ीमती शाल और बहुमूल्य ख़ंजर ले लेते हैं। एक आधुनिक यात्री लिखता है कि "ख़लीफ़ाके नगरमें प्रवेशकर उसकी सड़कोंको मैंने हर प्रकारके कपड़े पहने और हर रंगके आदमियोंसे भरा पाया। फ़ारसके मकान छोटे हैं परन्तु बग़दादके मकान कई मंज़िल ऊँचे थे और उनकी जालीदार खिड़कियाँ बन्द थीं। विस्तृत बाज़ार लोगोंसे भरा था और मेरे चारों ओर असंख्य दुकानें और काफ़ी भवन थे। स्वरोंकी आवाज़ और रेशमी पोशाककी सरसराहटसे जान पड़ता था कि जैसे मधुमक्खियोंके छत्तेके पास पहुँच गये हों। क्योंकि यद्यपि आज बग़दादमें उसके प्राचीन गौरवकी छाया भर रह गई है तथापि वह अब भी एशियाका विशालकाय सराय है।" परन्तु वस्तुत: जीवनकी भाव-भंगियों और तौर-तरीक़ोंमें कितना अन्तर पड़ गया है! फ़ारसी दरबारकी रौनक़ गायब हो गई है; समाजकी शक्ल बदल गई है, नर-नारियोंके पारस्परिक सम्बन्ध अब उपेक्षाकृत कम नियन्त्रित हैं और

प्रत्येक वस्तुसे आमोद-प्रमोद और नंगे विलासका परिचय मिलता है। यद्यपि ग्रीष्म ऋतुमें चमकती हुई धूपसे दिनमें भागकर निवासी अपने तहख़ानोंकी शरण लेते हैं तथापि रात्रिमें खुली छतोंपर, खुली हवामें शीतलताके वे आनन्द लेते हैं। नवम्बरसे फ़रवरी तकका सुंदर मौसम ग्रीष्मकी असुविधाओंका प्रतिकार कर देता है, यद्यपि वासना उमड़ पड़ती है और इन्द्रियोंको हर प्रकारकी मोहक उत्तेजना मिलने लगती है।

जहाँ तक कि इस रूपका सम्बन्ध है, सम्भवतः प्राचीनोंने भी इसी प्रकार अनुभव किया होगा। इसमें क्या कोई सन्देह है कि जो उन दिनों फ़रातसे होकर फ़ारस और मीडियाके राजकीय नगरोंसे व्यापारके उस महान् केन्द्रको जाते थे वे यही अनुभव न करते थे ? परन्तु आधुनिक बग़दाद उस पूर्वी जगत्की प्राचीन राजधानीके सामने क्या है ? जब पूर्व और पच्छिमके और दक्षिणके व्यापार करनेवाले जहाज़ोंके व्यापारी वहाँ एकत्र होते होंगे, तब उसके नगरों और मैदानोंमें कितनी भीड़ दीख पड़ती होगी; जब ख़ल्दी और ईरानी शाह अपने असंख्य अनुचरोंके साथ यहाँ निवास करते होंगे तब इस नगरका गौरव कैसा रहा होगा, जब यह संसारके व्यापार और सारी जातियोंका आकर्षणका केन्द्र था तब उसकी शालीनता कैसी रही होगी ? तब उन मैदानोंमें कितना जीवन इठलाता होगा, जहाँ आज भयानक नीरवता है, जो अब तक बहुतोंकी पुकार या सिंहकी गर्जनसे ही भंग होती है।

यहूदी और ग्रीक लेखकोंने प्राचीन बाबुलका जो वृत्तान्त छोड़ा है, उससे वहाँके धन और गौरवका पता चलता है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उन्हीं वृत्तान्तोंसे अनियमित विलास और उच्छृङ्खल व्यभिचारका परिचय भी मिला है। बाबुलियोंकी दावतें असीम उन्मादकी होती थीं और दावतोंके बाद जिस उच्छृङ्खल आचरणका आरम्भ होता था उसका अनुमान करना कठिन है। आचारभ्रष्टता और नंगी विलासिताका जो रूप प्राचीन बाबुली जीवनके इन अवसरोंपर मिलता है वह इतिहासकी अन्य जातियोंमें

सर्वथा अप्राप्य है। जब एक ऐसी ही घृणित दावतके अवसरपर विजेता फ़ारसियोंने प्रवेश किया तब बाबुलके अभिजातकुलीय और राजा उन्मत्त विलासितामें डूब रहे थे। वेलशज़्ज़ार हज़ारों सम्भ्रान्त दरबारियोंके साथ शराबके दौरोंमें डूबा हुआ था जब अदृश्य हाथने राजकीय भवनकी दीवार-पर उसके अभाग्यकी भावी लिखी और उसे भयानक विपत्तिका बोध कराया। परन्तु आचरणकी यह भीषण उच्छृङ्खलता और पतन जितना पुरुषके आचरणमें प्रदर्शित होते उससे कहीं बढ़कर व्यापार नारियोंके जीवनमें दृष्टिगोचर होता। पूर्वीय अन्तःपुर और विशेषकर पूर्वी सुल्तानोंके हरम शरम और परदाकी पराकाष्ठा रहे हैं परन्तु बाबुली नारीके चरित्रमें उसका कहीं आभास नहीं। इसी कारण नबी जब बाबुलके पतनको धिक्कारता है तब उसका वर्णन उस उन्मत्त विलासिनीके रूपमें करता है जो अपने नारीत्वसे उठकर दासत्वके गढ़ेमें उचित ही जा गिरती है। इन विलासकी दावतोंमें नारी सर्वथा नंगी शामिल होती थी और अपनी बेपर्दगीके साथ ही वह शरमकी भी तिलांजलि दे देती थी। हेरोदोतस् तो यहाँ तक लिखता है कि बाबुलमें एक धार्मिक विधान भी था जिसके अनु-सार प्रत्येक स्त्रीको मिलित्ताके मन्दिरमें जीवनमें एक बार अपरिचितके साथ समागम करना पड़ता था और इस सम्बन्धमें वह अपने साथीको अपरिचित कहकर छोड़ नहीं सकती थी। इस विलासिताका प्रधान कारण निश्चय वह अनन्त धनराशि और वैभव था जो बाबुलके व्यापार द्वारा उस नगरमें धारासार बरसता था। जलवायु और धर्म उस घृणित व्यापारमें सहायक थे।

व्यापारकी दृष्टिसे बाबुलकी स्थिति एशियाके प्रत्येक प्रदेशमें सम्भवतः अच्छी थी। स्थल मार्गसे व्यापार तो उसके लिए सुगम था ही नदीका जलमार्ग भी व्यापार की कम सुविधा नहीं उत्पन्न करता था। दजला और फ़रात नामकी दो बड़ी नदियाँ इसके दोनों ओर बहती थीं। वे एशियाके भीतरी देशोंके साथ इसके आवागमनके दो प्राकृतिक साधन

बन गई थीं; और निश्चय फ़ारसकी खाड़ीमें पोत-व्यापारियोंकी सुविधाएँ अरबकी खाड़ीसे कहीं अधिक थीं। भारतका व्यापार भी बाबुलके साथ था और उसके कुत्तों तथा सिन्धु नामक मलमल कपड़ेके बाबुल आनेका वृत्तान्त तो बाइबिलमें भी मिलता है।

प्राचीन लेखक बाबुल निवासियोंकी विलासी और वैभवप्रिय लिखते हैं। उनके विलासके अनेक साधन और वस्तुएँ तो ऐसी थीं जो बाबुलमें अप्राप्य थीं और दूर देशसे आया करती थीं। उनके लिबासमें सुविधा और उपादेयताके बजाय बहुमूल्यतापर कहीं अधिक ध्यान रक्खा जाता था। उनके सार्वजनिक अवसरों और यज्ञोंमें धनका नितान्त अपव्यय होता था और जिन बहुमूल्य सुगन्ध द्रव्योंपर वे इतना ख़र्च करते थे वे केवल विदेशोंसे ही आते थे। क़ीमती तथा मालकी कच्ची सामग्री भी बाहरसे ही आती थी; उस देशकी मिट्टीमें वह किसी प्रकार उपजाई न जा सकती थी। उनकी अनेक नागरिक संस्थाएँ भी यह सिद्ध करती हैं कि उस नगरमें विदेशियोंका निरन्तर आना-जाना होता रहता था। इसीसे उनके उस व्यवहारका अर्थ लग सकता है जो वे अपने बीमारोंसे करते थे; उनके बीमारी बाज़ारमें खड़े कर दिये जाते जिससे आने-जानेवाले उनकी बीमारीके सम्बन्धमें प्रश्न करें और सहानुभूति अथवा अन्य प्रकारके अपने ज्ञानसे उन्हें रोगमुक्त करनेमें सहायता करें। मिलित्ताके मन्दिरमें होनेवाली वेश्यावृत्ति तथा कुमारियोंकी नीलामी भी इसी सिद्धान्तसे समझी जा सकती है।

इन व्यवहारोंसे निष्कर्ष निकालना चाहे जितना सही हो, बाबुलके व्यापारके सम्बन्धमें विस्तृत वृत्तान्त प्रस्तुत करना निश्चय कठिन है। व्यापार सम्बन्धी सामग्री ग्रीक और इब्रानी लेखकोंके वृत्तान्तोंमें ही कुछ हद तक मिल सकती है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि तत्संबन्धी श्रम व्यर्थ न जायगा और उसका परिणाम वह चित्र होगा जो, चाहे वह

अपने सर्वांग पूर्ण न हो, हमारे सामने एक स्पष्ट रूप-रेखा अवश्य प्रस्तुत कर देगा।

इस सम्बन्धमें बाबुल द्वारा उत्पादित वस्तुओंपर एक नज़र डाल लेना उपादेय होगा। हम जानते हैं कि उनके वस्त्र कई प्रकारसे बुने होते थे। वे कुछ तो ऊन, कुछ रेशों और कुछ सम्भवतः सूतके बने होते थे। हेरोदोतस्र लिखता है :—वे रेशे अथवा सूतका चोगा पहनते हैं जो पैरों तक लटकता है, उसके ऊपर एक ऊनी कपड़ा और एक सफ़ेद कुर्ता पहनते हैं जो सबको ढक लेता है। निश्चय इतने भारी वसनकी उस देशमें आवश्यकता न थी और वह सम्भवतः प्रदर्शनप्रियताके कारण ही प्रयुक्त होता होगा, हाँ, सर्दियोंमें उसका आकार-प्रकार अवश्य बदल दिया जाता होगा। उनकी बुनावटकी वस्तुएँ अपने देशमें ही नहीं उपयुक्त होती थीं वरन् विदेशोंको भी भेजी जाती थीं। ग़लीचे जितने रंग-विरंगे बाबुलमें बनते थे उतने एशियाके किसी अन्य देशमें नहीं। उनके ऊपर जो अनन्त चित्र बनते थे उनमेंसे एक वह भारतीय काल्पनिक जीव भी था जिसका सिर गरुड़ पक्षीका होता था, और जिसकी आकृति पर्सियोलिसके भग्नावशेषोंमें अनेक बार मिल चुकी है। बाबुलको उसका ज्ञान सम्भवतः फ़ारसके ज़रिये हुआ। विदेशोंमें इनका उपयोग हरमों और राजसभाओंमें होता था। फ़ारसमें तो जितना इनका उपयोग होता उतना किसी अन्य देशमें न था। ईरानी अमीर केवल फ़र्शको ही नहीं अपने पलंग और सोफ़ोंको भी इन ग़लीचोंसे ढक लेते थे। उनकी प्राचीन समाधियाँ तो बराबर इन्हींसे अलंकृत होती थीं। सम्राट् कुरुषकी समाधिपर एक नीले ग़लीचेका अलंकरण है।

बाबुली वस्त्रोंकी बाहर कम माँग न थी। उनमेंसे एक प्रकारके वस्त्र, जिनको ग्रीक सिन्दोनिज़ कहते थे, अत्यधिक मात्रामें प्रसिद्ध थे। ये साधारणतः सूतके बने होते थे और ये अपने रंगोंकी चमक और बुनावटकी बारीकीके कारण अत्यन्त मँहगे दामों बिकते थे। मीडियामें

बने वस्त्रोंसे उनकी तुलना की जाती और वे राजाके परिधानमें ही काम आते थे। कुरुषकी समाधिपर भी वे मिले हैं। उस समाधिपर ईरानी सम्राट् द्वारा जीवनमें उपयुक्त होनेवाली सारी वस्तुओंका संग्रह है। यदि हम इस बातको याद रक्खें कि बाबुल एक ओर आयोनियाँ और दूसरी ओर अरब तथा सीरियाके कितना निकट था तो हमें वहाँके बुने कपड़ों और ग़लीचोंकी बारीकीपर कुछ भी आश्चर्य न होगा। आखिर इन देशोंमें संसारकी सबसे अच्छी रुई पैदा होती थी।

बुनाईके केन्द्र न केवल बाबुलमें ही वरन् उस देशके अन्य नगरोंसे भी स्थापित थे जिन्हें फ़रात और दजलाके किनारे सेमीरेमिसने मीडिया और फ़ारससे आई हुई वस्तुओंके बाज़ारोंके रूपमें स्थापित किया था। इन्हीं नगरोंमें देशी व्यापारकी आढ़तें भी थीं। इनमें मुख्य नगर फ़रातके तटपर बाबुलसे पन्द्रह मील नीचे अवस्थित था जिसका ज़िक्र इतिहासमें कुरुषके कालसे भी पहले हुआ है। ये ही नगर फ़्लेक्स और सूतकी बुनी वस्तुओंके केन्द्र भी थे और वे इतिहासकार स्त्रावोके समय तक उनके केन्द्र बने रहे।

इनके अतिरिक्त बाबुली विलासकी अनन्त वस्तुएँ अपने देशमें प्रस्तुत करते थे। अपने उष्ण वातावरणसे रक्षा पानेके लिए वे मीठा जल प्रस्तुत करते थे। टहलनेके लिए पशुओंकी सुन्दर आकृतियोंसे अलंकृत मूठोंकी छड़ियाँ भी बाबुली नागरिकके हाथमें रहती थीं। इन छड़ियोंकी मूँठें अक्सर रत्नजटित होती थीं।

क़ीमती पत्थरोंका प्रयोग मुहर करनेवाली अँगूठियोंके बनानेमें भी होता था और यह मुहर बाबुली कागज़ातपर दस्तख़तका काम देती थी। बहुमूल्य पत्थरोंकी कटाईका काम जितनी सफ़ाई और ख़ूबसूरतीसे बाबुली करते थे शायद दुनियाकी किसी जातिने कभी नहीं किया। फ़्रान्सीसी-दाराके संग्रहमें जो एक गोल अँगूठीनुमा मुहर है वह लालकी बनी है। और उसके ऊपर एक सुन्दर छोटा अभिलेख खुदा है। उसके साथ ही

ढीले बाबुली वस्त्रमें पक्षधारी इजेदकी सुन्दर मूर्ति भी है जो प्रत्येक हाथमें एक शुतुर्मुर्ग़ कुचल रही है। इसमें सन्देह नहीं कि इन वस्तुओंके उत्पादनमें विदेशोंका व्यापार विशेष सहायक सिद्ध हुआ होगा। चूँकि इनके कच्चे मालकी अभिप्राप्ति वहींसे हुई होगी।

ऊपरके वृत्तान्तसे स्पष्ट हो जायगा कि फ़ारसके साम्राज्यके अनेक देशोंसे बाबुलका गहरा व्यापार-सम्बन्ध था। फ़ारस और मीडियाके श्रीमान् ही न केवल कला द्वारा उत्पन्न वस्तुओंसे अपने मकानोंको सजाते थे वरन् फ़ारसका शाह भी अपने बहुसंख्यक संभ्रान्त अनुचरोंके साथ सालका बड़ा भाग उस नगरमें बिताता था। इसके अतिरिक्त ईरानी साम्राज्यके बाबुली सूबेदार क्षत्रप भी उसी नगरमें निवास करता था जिससे वहाँके ऐश्वर्य और वैभवमें पर्याप्त अभिवृद्धि होती थी। फ़ारस और बाबुलके इस घने संबन्धके कारण बाबुल और सूसाके बीचका देश एशियामें सबसे अधिक आबाद और उर्वर हो गया। सूसा और बाबुलके बीच एक प्रशान्त राजमार्ग भी था जिसपर विशाल ईरानी सेना विना किसी असुविधाके अपनी गाड़ियों और रथोंके साथ एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँच जाया करतीं। फ़ारसके पीछेके देशोंके साथ वाबुलका व्यापार-संबन्ध कितना घना था, यह कहना तो कठिन है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत और उसके समीपके देशोंसे भी उसका व्यापार होता था।

इन विदेशोंसे बाबुली जो चीज़े मँगाते थे, क़ीमती पत्थर उनमें प्रधान था। इनका उपयोग जैसा ऊपर बताया जा चुका है मुद्रिकाओंमें होता था। बतेसियस् तो स्पष्ट लिखता है कि यह पत्थर भारतसे आते थे जो उसके मरु प्रदेशकी सीमापर पाये जाते थे। आधुनिक यात्रियोंके वृत्तान्तसे प्रमाणित है कि इस लेखकका वक्तव्य सर्वथा मान्य है और आज भी यहाँ अत्यन्त असाधारण रूपमें नीलम पाये जाते हैं। भारतके अतिरिक्त नीलम बाख्त्रीके रेगिस्तान और अन्य उत्तरवर्ती देशोंमें भी पाया जाता था। थियोफ़्रेस्तस लिखता है कि "उनको खोजनेवाले घोड़ेपर चढ़कर वहाँ उत्तरी

हवाके समय जाते हैं और जब वह रेतको उड़ा देती है तब वे उन्हें प्राप्त करते हैं।" वह एक स्थानपर फिर लिखता है कि "वाख्त्रीमें लाये हुए सबसे अच्छे और बड़े पन्ने तीरमें हरक्यूलिज़के मन्दिरमें हैं" भारतसे आनेवाले रत्न पश्चिमी घाटके पहाड़ोंमें भी मिलते थे। ये रत्न अधिकसे-अधिक संख्यामें भड़ोंच या प्राचीन बेरीगाज़ा और कम्बादाके पास भी मिलते थे। इन्हींके पासके समुद्र तटसे पश्चिमी माझियोंका संबन्ध भी था। ऊपर बताया जा चुका है कि बाबुलमें भारतसे कुत्ते भी आते थे। इन कुत्तोंकी नस्ल संसारमें सबसे बड़ी और मज़बूत होती थी और इसी कारण वे बनैले जन्तुओंके शिकारमें काम आते थे। वे सिंह तकसे लड़ जाते थे और उनपर वे उन्हें देखते ही हमला करते थे। इस प्रकारके कुत्तोंकी एक नस्ल सिकन्दरने भी पंजाबमें देखी थी और एक कुत्तेको उसने शेरसे लड़ाया भी था। ईरानी तो शिकारसे बड़ा प्रेम करते थे और उसे व्यायाम समझते थे। इसी कारण ये कुत्ते भी उनकी आवश्यकता सिद्ध हुए और बादमें ऐशकी भी एक चीज़ समझे जाने लगे। ईरानी उन्हें बड़ी संख्यामें रखते और अपने साथ यात्राओं और युद्धोंमें ले जाते थे। इन कुत्तोंपर वे काफ़ी धन व्यय करते थे। क्षयार्षके संम्बन्धमें हेरोदोतस् लिखता है कि वह अनन्त संख्यामें कुत्ते लेकर ग्रीसपर चढ़ाई करने गया था। बाबुलका क्षत्रप एक तो कुत्तोको इतना पसन्द करता था कि उसके चार नगरोंकी आय केवल इन्हीं कुत्तोंपर व्यय होती थी और वे नगर अन्य करोंसे मुक्त थे। इनमें व्यापार भी भारतसे काफ़ी होता होगा यद्यपि इनकी नस्ल बाबुलमें भी कालान्तरमें उत्पन्न की जाने लगी होगी।

क्तेवियस्की रायमें, जहाँसे ये कुत्ते आते थे वहींसे बहुमूल्य पत्थर भी आते थे। और इस प्राचीन ग्रन्थकारका यह वृत्तान्त एक आधुनिक पर्यटकने अनुमोदित कर दिया है। वेनिसका यात्री मार्को पोलो अपने भ्रमण-वृत्तान्तमें भारतके कुत्तोंका भी वर्णन करता है। वह लिखता है कि वे इतने ताक़तवर थे कि सिंहोंको भी फाड़ डालते थे।

तीसरी वस्तु जो बाबुली इस भागमें प्राप्त करते थे वह थी कोचीन या भारतीय लाह। उसके अतिरिक्त अनेक रंग भी वहाँसे आते थे। लाहके कीड़े और उसके वृक्षका प्राचीनतम उल्लेख क्तेसियस्के वृत्तान्तमें मिलता है। उसकी रायमें यह उस देशका निवासी है जहाँसे सिनपुका निकास है। भारतीय इससे अपने वस्त्र रंगते हैं जिनकी छवि फ़ारसके रंगोंसे कहीं सुन्दर होती है। इनका एक और उपयोग भारतीय नारियाँ करती थीं जिसका उल्लेख क्तेसियस् नहीं कर सका है। वे इससे अपने होंठ और पाँवके तलवे भी रंगती थीं। संस्कृतके कवियोंने इनसे रँगे होठों और विशेषकर पाँवोंका प्रभूत वर्णन किया है।

इरैस्तोथेनीज़के आधारपर स्त्राबोने इस सम्बन्धमें जो लिखा है उससे उन वणिक्पथोंका पता चलता है जिनसे होकर फ़ारसके सीमावर्ती भारतीय प्रदेशोंसे माल ईरानी नगरों, विशेषकर बाबुलको, जाया करता था। वह वणिक्पथ उर्वर और घने आबाद प्रदेशोंसे होता हुआ पहले उत्तर दिशाकी ओर जाता जिससे मीडिया और फ़ारसके बीचकी मरुभूमिमें बसने वाली खूनी जातियोंका खतरा न रहता। दक्षिणके रेगिस्तानसे कास्पियनकी राह चलकर यह हिरकेनिया और एरिया जा पहुँचता। एरियामें हिरकनी और पार्थव पहाड़ोंके निचले वनोंसे होकर फिर यह पथ उत्तर बाख्त्री (बैक्ट्रिया) की ओर मुड़ जाता। इसी राहसे सिकन्दरने भी बाख्त्रीपर हमला किया था। और यद्यपि वह सुविधाके अनुसार पहाड़ी जातियोंपर आक्रमणके अर्थ जब-तब यह मार्ग छोड़ देता था, बार-बार वह लौटकर इसीपर चल पड़ता था। एरियन इसको महान् आक्रमण-मार्ग कहता है।

एरिया तक तो भारतका वणिक्पथ यही था। यहाँसे दो रास्ते फूटते थे, एक उत्तरको बाख्त्री जाता था और दूसरा पूर्वकी ओर। पूर्वकी ओर जानेवाला मार्ग तीन रास्तोंमें बँट जाता, जिसमेंसे एक सीधा भारत पहुँचता। दूसरा भी उसी ओरसे संभवतः दक्षिण घूमकर पहुँचता और

तीसरा उत्तरकी ओर मुड़ जाता। इसी तीसरे मार्गके जरिये भारत और बाख्त्रीके बीच यातायात होता। उसकी राजधानीका नाम भी बाख्त्री था और वह पूर्वी एशियाका व्यापार-केन्द्र था।

उत्तरी भारतके सौदागर उत्तरकी राहसे बाख्त्री पहुँचते और वहाँ अपने रंग बेचते। फिर वे कारवाँ बनाकर गोबीके रेगिस्तानकी ओर पहुँचते जहाँसे पश्चिमी एशियाके लिए रंग और सर्वोत्तम ऊन जाता। इसी गोबी रेगिस्तानमें सोना पाया जाता था। क्तेसियस् लिखता है : "जिस मरुभूमिमें सोना निकलता है और जहाँ गरुड़ होता है वह अत्यन्त उजाड़ है। भारतीयोंके पड़ोसी बाख्त्री निवासी कहते हैं कि गरुड़ स्वर्णकी रक्षा करते हैं, यद्यपि भारतीय इसे अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि गरुड़ केवल अपने बच्चोंकी रक्षाके लिए मुस्तैद रहते हैं। भारतीय हज़ार दो हज़ारकी संख्यामें सशस्त्र होकर उस मरुभूमिमें जाते हैं। परन्तु वे एक बार उधर जाकर तीन-चार वर्षसे पूर्व नहीं लौट पाते।" स्पष्ट है कि ये भारतीय उत्तरी प्रदेशोंके थे और उल्लिखित मरुभूमि गोबीकी थी।

स्त्राबोने लिखा है कि किस मार्गसे बाबुलके भाण्ड मेडिटेरेनियन सागर तटको ले जाये जाते थे। यह मार्ग मैसोपोतामियाके ठीक बीचसे उत्तरकी ओर चलता और पचीस दिन चलकर अन्थेमूसियाके पास फ़रात पहुँचता। वहाँसे पश्चिम मुड़ यह सागर तटपर जा पहुँचता। इस मार्गपर प्रबल कारवाँ ही चल सकते थे क्योंकि राहमें ख़ूनी जातियोंके आक्रमणका बड़ा भय रहता था। अनेक बार तो उनको लूटसे बचनेका कर देकर जाना होता। यही मार्ग संभवत: ईरानी शासनमें भी प्रयुक्त होता रहा।

सारदिस और एशिया माइनरके अन्य ग्रीक व्यापारी नगरोंको जानेवाले एक दूसरे सैन्य-मार्गका विस्तृत वर्णन हेरोदोतस्ने किया है। इसे ईरानी सम्राटोंने प्रभूत व्ययसे निर्मित किया था। इसके निर्माणका प्रधान कारण और आवश्यकता राजनीतिक थी। ईरानी ग्रीकोंके साथ

युद्धके अवसरोंपर जितनी प्रधानता एशिया माइनरको देते उतनी अपने और किसी सूबेको नहीं और उस प्रान्तके साथ वे सर्वदा यातायात द्वारा सम्पर्क बनाये रखना चाहते। परन्तु हेरोदोतस्के वृत्तान्तसे तो प्रमाणित है कि ईरानी नगरोंको एशिया माइनरसे जोड़नेवाले इस प्रशस्त मार्गपर कारवाँ भी चलते थे। उसका कहना है कि यह मार्ग बाबुलसे नहीं सूसासे चलता था परन्तु इन दोनों नगरोंका पारस्परिक सम्बन्ध इतना गहरा था कि इस वक्तव्यसे मार्गके मूलके विषयमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

इसी प्राचीन मार्गपर इस्पहान और स्मिरनाके बीच आज भी कारवाँ चलते हैं। फ्रेंच यात्री तावर्नियेने इसका पूरा वर्णन किया है। आज यह मार्ग स्मिरनासे तोकात और तोकातसे एरिवान जाता है। इस मार्गके केवल उत्तरार्द्धमें परिवर्तन हुआ है क्योंकि इस्पहान जानेके लिए यात्रियोंको उस मिएह झीलके बाद उत्तर-पूर्व फिर जाना पड़ता है। इसके विरुद्ध प्राचीन यात्री इतना पूर्व न जाकर दक्षिणकी ओर बढ़ दजलाका तट पकड़ लेते थे।

फिर एक विषयमें, हेरोदोतस्के वृत्तान्तानुसार, प्राचीन और अर्वाचीन मार्गोंमें समता थी, दोनों लम्बी राहका अवलम्बन करते जिससे वे आबाद प्रदेशोंसे होकर जा सकें और दस्युओंके आक्रमणोंसे बच सकें। सीधा रास्ता मेसोपोतामियाँके मैदानोंसे होकर जाता जहाँ रक्तपिपासु जातियोंकी घुमक्कड़ प्रवृत्तियोंके कारण रक्षाका सर्वथा अभाव होता। इसी कारण प्राचीन और अर्वाचीन दोनों कालोंमें यात्राका मार्ग उत्तरकी ओरसे अर्मनी पहाड़ोंकी छायामें होकर जाता जिससे यात्रीकी रक्षा हो सकती।

कारवाँकी यात्राकी विविध मंज़िलें नियत थीं। हेरोदोतस्के विचारसे इन मंज़िलोंकी दूरी सात-आठ घंटोंकी यात्रा थी। और तावर्नियेके वृत्तान्त-से प्रमाणित है कि ठीक इतनी ही दूरी मालसे लदे हुए ऊँटके कारवाँ एक दिनमें तै कर पाते थे। परन्तु निःसन्देह घोड़ोंके कारवाँ इस परिमाणसे

कहीं अधिक तेज़ चलते थे। चूँकि यह मार्ग अत्यन्त निरापद था, इसमें संदेह नहीं कि सौदागर और यात्री अकेले भी इसपर चला करते थे।

बाबुलका एक तीसरा व्यवसाय-मार्ग अर्मनीकी दिशामें जाता था, उत्तरकी ओर। अर्मनी सौदागरोंको फ़रातके जलमार्गका लाभ था और उसी मार्गसे वे अपनी वस्तुएँ, विशेषकर शराब, बाबुल पहुँचाते थे। हेरोदोतस्ने इस जल-यात्राका उल्लेख किया है और उसके वृत्तान्तसे जान पड़ता है कि अर्मनी जहाज़ों या बँधे बेड़ोंकी बनावट दजलामें चलनेवाले उन आजके ही जहाज़ोंकी-सी थी जिन्हें 'किलेत' कहते हैं। इन नावोंका पंजर मात्र लकड़ीका था जिसके ऊपर चमड़ा चढ़ा होता था और नरकटसे वह नीचे पाट दिया जाता। उसका आकार अण्डेका-सा हो जाता। उनमें सौंदर्यकी चीज़ें विशेषकर शराबके भारी पीपे भर दिये जाते और डाँडोंके सहारे धारामें वे चल पड़तीं। ये नावें बड़ी-छोटी सभी प्रकारकी थीं। हेरोदोतस्ने कुछ १२००० टन तक माल ढोनेवाली देखी थीं। बाबुल पहुँचकर सौदागर मालके साथ-साथ नावका पंजर बेच डालते और साथ लाये गधोंपर खालें लादकर स्वदेश लौट जाते। वह लिखता है कि धारा इतनी तेज़ थी कि नावें उसमें लौट ही न सकती थीं। इसी प्रकार जर्मनीमें भी जो नावें डैन्यूबकी राह विएना जाती हैं वे मालके साथ स्वयं भी बिक जाती हैं।

इस प्रकार बाबुलका व्यवसाय एशियाके दूर-दूरके देशोंको छूता था, अपने देशकी उपज वहाँ पहुँचाने और उससे अधिक अपनी आवश्यकताकी वस्तुएँ प्राप्त करनेके लिए। बाबुलका नगर-जीवन इतना विलासप्रिय था कि दूसरी विविध आवश्यकताओंकी पूर्ति केवल उस देशकी उर्वरतासे न हो सकती थी, उस कालकी सारी सभ्य जातियोंके व्यापार का उसमें योग था।

अफ्रीकी दन्तकथाएँ

: १४ :

अफ़्रीकाका महाद्वीप अंध-महाद्वीप कहलाता है क्योंकि उसके सबसे बड़े हिस्सेपर अज्ञानका अँधेरा छाया रहता है। समुद्रसे लगे चारों किनारोंको छोड़कर बाक़ी समूचा महाद्वीप घने आदिम जंगलोंसे ढका हुआ है। पच्छिम-दक्खिन और पूरबके किनारोंपर कुछ गहराई तक समय-समयपर यूरोपकी जातियोंने हमले करके अपनी बस्तियाँ बसा ली हैं या अपने साम्राज्य खड़े कर लिये हैं। सहाराके उत्तरमें भू-मध्य सागर तक हब्शी-इस्लामी या अरबी जातियाँ बसी हैं। मिस्रपर तो बड़े प्राचीन-कालसे ही एक महान् सभ्यताका अधिकार हो चुका था और वहाँ अरबों-की हुकूमत जमनेके बाद नूबिया और सहारा तककी सारी हब्शी जातियाँ मुसलमान हो गईं। पास ही अबीसीनिया या एथियोपियाका संसारमें सबसे पुराना ईसाई राज्य है। इन जगहोंमें मिली-जुली हब्शी जातियाँ रहती हैं जो, चाहे मज़हबसे मुसलमान या ईसाई हैं, बोलती वे अपनी-अपनी हब्शी बोलियाँ ही हैं।

सहाराके दक्खिन दूर तक तीनों दिशाओंमें फैली अनेकानेक हब्शी जातियाँ रहती हैं जिनकी अपनी-अपनी बोलिया हैं, अपनी-अपनी लोक-कथाएँ हैं, अपनी-अपनी किंवदन्तियाँ और अपनी-अपनी कहावतें हैं। यही उनका साहित्य है—लोककथाओं, किंवदन्तियों और कहावतोंके आधारपर खड़ा। इनमें उन हब्शियोंका भी साहित्य है जो अब अफ्रीकामें नहीं रहते, कनाडा और अमेरिकामें रहते हैं और जिन्हें "नीग्रो" कहते हैं। इन्हें यूरोपीय जहाज़ोंके मालिक अफ़्रीकाके सागर तीरकी इनकी बस्तियोंपर छापे मारकर सदियों पहले पकड़ ले गये थे और उन्हें यूरोपके अनेक

देशोंमें और विशेषकर अमेरिकामें ग़ुलाम बनाकर रख लिया था। ग़ुलामीके ख़िलाफ़ क़ानून बन जानेके कारण यूरोपसे तो नीग्रो हब्शियोंका ख़ात्मा हो गया पर विशेषतः उत्तरी और दक्खिनी अमेरिकामें सब जगह बड़ी संख्यामें आज भी वे बसे मिलते हैं। स्वाभाविक ही वे अपनी लोककथाओंका साहित्य जहाँ-जहाँ वे गये हैं वहाँ-वहाँ अपने साथ लेते गये हैं। जहाँ-जहाँ वे बसे हैं बेशक वहाँ-वहाँके पुराने बाशिन्दोंकी कथाओंका असर उनकी कथाओंपर पड़ा है। इस प्रकार अमरीकी नीग्रो-हब्शियोंके साहित्यपर रेड-इंडियनोंके साहित्यका ख़ासा असर पड़ा है, यों उनका हृदय शुद्ध अफ़्रीकी आज भी बना हुआ है।

साहित्यसे हमारा मतलब यहाँ सिर्फ़ लोक-साहित्य यानी लोक-कथाओं और किंवदन्तियोंसे है। कारण कि ललित साहित्य इतिहासकी ही तरह प्रगतिशील और सभ्यताका अंग होता है। इतिहास और सभ्यता दोनों तेज़ होते हुए परिवर्तनसे बढ़ते हैं। आदिम जातियोंका रहना-सहना परम्पराओं और रूढ़ियोंसे इस क़दर जकड़ा रहता है कि उनकी जीवनचर्यामें परिवर्तन बहुत कम होते हैं। इसीसे उनमें सभ्यता नहीं, इतिहास नहीं, ललितसाहित्य नहीं।

पर इसी कारण लोक-साहित्यकी उन जातियोंमें विशेष अधिकता होती है और उनके जीवनकी रग-रगमें कहानियाँ और किंवदन्तियाँ रसी रहती हैं। यहाँ हम उन्हीं अफ़्रीकी हब्शी जातियोंकी लोककथाओं, किंवदन्तियों, ग़रज़ कि उनके साहित्यका ज़िक्र करेंगे।

पिछले सालोंमें अनेक यूरोपीय विद्वानोंने ज़ुलू, थोगा, लाम्बा, इला बुंदू, चग्गा, कम्बा, योरूबा, अशान्ती, हौसा, ग़ुरो, गागू, आदि अनेक हब्शी जातियोंमें प्रचलित आठ-दस हज़ार कहानियाँ छापी हैं। पर इन कहानियोंकी संख्या इतनी ही नहीं, लाखोंमें है और पण्डितोंका अटकल है कि ऐसी कहानियोंकी संख्या क़रीब ढाई-तीन लाख तक पहुँच जायेगी।

स्वयं इन जातियोंके सयानोंने अपने इस लोकसाहित्यमें वर्गीकरण किये हैं और इन्होंने अपने पौराणिक विश्वासों और साधारण लोककथाओं या किंवदन्तियोंमें भेद किये हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने साहित्यके प्रायः ६ वर्ग किये हैं। पहला वर्ग उन किंवदन्तियों या पारिवारिक कहानियोंका है जिनमें जानवरोंका भी इस्तेमाल हुआ है और जानवर आदमीकी तरह बातचीत और आचरण करते हैं। इन कहानियोंको वहाँ "मि-सोसो" कहते हैं। दूसरा वर्ग "माका" कहलाता है जिनमें साधारण चुटीली कहानियाँ होती हैं। तीसरा वर्ग प्रायः ऐतिहासिक कहानियोंका है और उनमें जातियोंकी पुरानी घटनाओंका ज़िक्र होता है। उन्हें "मालुन्दा" कहते हैं। चौथा वर्ग कहावतोंका है और "जि-साबू" कहलाता है। पाँचवें वर्गमें गीत है और छठेंमें पहेलियाँ। पहेलियोंको हब्शी लोग 'जिनोगो नोगों' कहते हैं। इस साहित्यका एक दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है—

(१) जानवर सम्बन्धी कहानियाँ, (२) दैत्य और दानव सम्बन्धी कहानियाँ, (३) हब्शियोंके जीवन सम्बन्धी कहानियाँ, (४) पौराणिक कथाएँ और किंवदन्तियाँ और (५) बाहरसे आई हुई कहानियाँ।

इन कहानियोंमें अनेक ऐसी चक्कदार हैं जिनमें कहानीके भीतर कहानी खुलती चली जाती हैं। उनमें राजाओं और उनकी प्रजाओंका बयान है, जानवरों और अलौकिक जीवों, देवताओं और दानवोंका। जानवरोंकी कहानियोंमें कछुए और खरगोशका ज़िक्र होता है, जहाँ जानवर अपनी चालाकीका बार-बार परिचय देता है। इस प्रकारकी चक्करदार कहानियाँ कछुए और खरगोशकी कहानियोंके अलावा 'यो'के सम्बन्धमें भी कही गई हैं जो धूर्त और पेटू है। एक दूसरा चक्कर जुड़वे भाइयोंकी कहानियोंका है, तीसरा सयाने बालककी कहानियोंका, चौथा मातृहीन बालककी कहानियोंका और पाँचवाँ शिकारीकी कहानियोंका। और इस प्रकारकी कहानियोंके चक्कर अफ्रीकाके साहित्यमें असीम हैं।

और वे उन कहानियोंसे बिलकुल अलग हैं जो पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंकी हैं। इन चक्करदार कहानियोंमें एकका दूसरी कहानीसे सम्बन्ध बदलेका सूत क़ायम रखता है। एकमें हारा हुआ जानवर दूसरेमें जीते हुए शत्रुको हरानेकी कोशिश करता है। इसीलिए अधिकतर चक्करकी अगली कहानियाँ एक खास इबारतसे शुरू होती हैं, जैसे, "तुम्हें याद होगा कि किस तरह कछुआ हिरनसे दौड़में बाज़ी जीतकर घर लौटा था...." या "जेलसे निकलनेके बाद मकड़ीने अब उस हाथीसे बदला लेनेका निश्चय किया जिसने उसे जेलमें डाला था।" इन जानवरोंकी कहानियोंमें भी हमेशा सिर्फ़ जानवर ही नहीं होते, उनमें अनेक बार आदमी भी अपने कारनामे दिखलाता है। एक बड़ी प्रचलित कहानीमें ज़िक्र है कि आदमीको जानवरोंकी बोली इस शर्तपर सिखाई गई है कि वह फिर दूसरोंको वह बोली न सिखाये, और शर्त तोड़नेपर उसे बदलेमें अनेक मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं। अफ्रीका और अमेरिकाके हब्शियोंमें अनेक कहानियाँ इस तरहकी भी कही जाती हैं जिनमें जानवरों द्वारा खतरेसे बचाये गये आदमियोंकी उनके प्रति नमकहरामीका बयान हुआ है। जानवरोंकी इन कहानियोंमें पौराणिक कहानियाँ और उनको स्पष्ट करनेवाली दिगर कहानियाँ, दोमानी कहानियाँ, शिक्षाप्रद और नीतिपरक कहानियाँ सभी भरी पड़ी हैं। कुछ कहानियोंमें देवता भी पात्र बनकर आते हैं और आदमियोंकी तरह या अलौकिक काम करते हैं। अनेक पौराणिक कहानियोंमें आदमियोंको अपने शिकंजेमें जकड़नेवाली मौतका ज़िक्र हुआ है। अशान्ती नामक हब्शी जातिकी कहानियोंमें सबसे लोकप्रिय वह है जिसमें मकड़ी अनान्सी चतुराईसे अनेकानेक असम्भव कार्य करती है और आकाशके देवता नियामेको मजबूर करती है कि वह "न्यानकौनसेम" कहानियाँ (आकाश-देवताकी कहानियों) को बदलकर उनका नाम "अनानसेसेम" (मकड़ीकी कहानियाँ) नाम दे दे।

कहानियोंके पौराणिक विश्वास भिन्न-भिन्न जातियोंमें भिन्न-भिन्न

मात्रामें दर्शाये गये हैं। इस प्रकारकी पवित्र कथाएँ संसारकी सृष्टि, देवताओंके जन्म, दुनियामें उनके कारनामों, उनके आपसी और मनुष्यसे सम्बन्ध, जादू आदिसे ताल्लुक रखती हैं। वे धार्मिक क्रियाओं और कर्मकाण्डको स्पष्ट करती हैं। अनेक पौराणिक कहानियाँ तो कुछ परिवारोंकी निजी हैं जिनका काम जातियोंके सामूहिक सम्बन्धपर प्रकाश डालना है।

हब्शी लोककथाका एक प्रधान वर्ग ऐतिहासिक और राजनीतिक कहानियोंका है। इनका नाम प्राचीन परम्पराको क़ायम रखना, बीते हुएको फिरसे जगाना, मनोरंजन करना या उपदेश देना है। जातिके बड़े-बूढ़े अक्सर ये कहानियाँ कहा करते हैं।

पर अफ्रीकी लोककथाका प्राण तो जानवर सम्बन्धीं कहानियाँ हैं। इनका विस्तार अफ्रीकाकी पुरानी दुनियासे अमेरिकाकी नई दुनिया तक है। इनमेंसे कुछकी ओर यहाँ इशारा किया जा सकता है। एक लोकप्रिय कहानी रस्साकशीकी है। उसमें छोटा कमज़ोरपर धूर्त जानवर अपनेसे बहुत बड़े जानवरसे रस्साकशीकी बाज़ी लगाता है। साथ ही वह ऐसी ही बाज़ी एक दूसरे, पहले जैसे ही मज़बूत, जानवरसे लगाता है। फिर दोनोंको वह एक दूसरेसे अनजाने, एक दूसरेकी आँखोंसे ओझल, रस्साकशीमें भिड़ा देता है। दोनों समझते हैं कि उनका दूसरा प्रतियोगी स्वयं बाज़ी लगानेवाला कमज़ोर जानवर है। इस प्रकार दोनोंको भिड़ाकर छोटा जानवर उनसे बाज़ी जीत लेता है। यह कहानी हब्शियोंमें इतनी लोकप्रिय है कि यह पुरानी दुनियाके सेनेगल, आइबरी कोस्ट, सुदान, तोबोलैण्ड, दाहोमी, नाइजीरिया, कालावार, गबून, कामरून, कांगो और दक्खिनी तथा पूरबी अफ्रीकामें और नई दुनियाके अमेरिका, वहामा, हाइती, तृप्तिदाद, डचगायना और ब्राज़ील सर्वत्रकी हब्शी जातियोंमें कही जाती है।

इसी प्रकार तार-बालककी कहानी इतनी लोकप्रिय है कि वह नीग्रो जातियोंमें सर्वत्र कही जाती है। ऐसी ही लोकप्रिय वह कहानी है जिसमें

छोटा और कमज़ोर पर चालाक जानवर भारी-भरकम विपक्षीको हराकर अपना चढ़नेका घोड़ा बना लेता है। एक और लोकप्रिय कहानी उस कछुएकी है जो हिरन, खरगोश आदि जानवरोंसे स्वयं आहिस्ता चलनेवाला होकर भी दौड़में बाज़ी जीत जाता है। ऐसी कहानीमें कछुआ अपने अनेक कछुए-साथियोंकी मदद लेता है और उनको दौड़की राहमें जगह-जगह तैनात कर देता है। आखिरी कछुआ जीतकी मंज़िलके बिलकुल पास होता है और प्रतिद्वन्द्वीके पहुँचनेके पहले ही मंज़िल छू लेता है, इस प्रकार कछुएकी जीत हो जाती है और उसका प्रतिद्वन्द्वी तेज़ दौड़ाक होकर भी असलियत न जानकर हार जाता है।

कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जो केवल प्रादेशिक हैं और कुछ ही इलाक़ोंमें प्रचलित हैं। इनमेंसे एक वह है जिसमें धूर्त जानवर हकीम, धाय या नौकर बनकर किसी बड़े जानवरके बच्चोंको सँभालनेका दम भरता है और एक-एक बच्चेको रोज़ खाकर बड़े जानवरका सर्वनाश कर देता है। इसी तरहकी एक दूसरी कहानीमें चालाक जानवर एक दूसरेके दुश्मन जानवरोंसे उधार रुपये ऐंठ लेता है और चतुराईसे एकको दूसरेसे ऐसा भिड़ा देता है कि जब महाजन कर्ज़दारसे रुपये माँगने जाता है तब दोनों लड़कर नष्ट हो जाते हैं और सच्चा कर्ज़दार कर्ज़ देनेसे बरी हो जाता है।

फिर ऐसा भी नहीं होता कि चतुर जानवर सदा जीत ही जाता हो। अनेक बार तो खुद उसे भी अपने मुँहकी खानी पड़ती है। जैसे तार-बालककी कहानीमें चतुर जानवर पकड़कर अपने कियेका मज़ा चखाया जाता है। एक पुतलेपर तारकोल या गोंद-सी चीज़ लेप दी जाती है जिससे चतुर जानवर अनजाने चिपककर पकड़ जाता है। इसी तरहकी एक कहानी गोल्डकोस्टके हब्शियोंमें कही जाती है, जो इस प्रकार है। मकड़ा संसारकी सारी बुद्धिमानी एक ताबीज़में भरकर उसे एक पेड़में चुरा देता है ताकि उनका फ़ायदा वह अकेले ही उठा सके। पेड़पर रखनेके लिए चढ़ते समय

मकड़ा ताबीज़को गलेमें डाल लेता है पर छातीपर उसके पड़े रहनेकी वजहसे वह घिसटकर पेड़पर चढ़ नहीं पाता। आखिर झल्लाकर वह ताबीज़को ज़मीनपर पटक देता है और बुद्धिमानी केवल उसीकी होकर नहीं रह पाती, दुनिया भरमें फैल जाती है।

जानवरोंकी इन कहानियोंमें मनोविज्ञान और सामाजिक बोधका एक भान होता है। बड़े और छोटेके सम्बन्धकी नैतिकतापर इन कहानियोंपर ख़ासा असर है। मकड़ी, ख़रगोश, कछुआ, हिरन कैसे रह पायें, जब शेर, हाथी, भैंसे और दूसरे बड़े जानवर उनके सर्वनाशका प्रयत्न सदा करते रहते हैं ?

अफ़्रीकाके जंगलोंकी ज़िन्दगी कुछ आसान नहीं है। वहाँ घास खानेवालोंसे लेकर आदमख़ोर तक पाये जाते हैं और सभ्यताके अभावमें उस अराजक दुनियामें जिसकी लाठी उसकी भैंसका राज है। फिर भी उचित और अनुचितका मेल और बुरेका विचार सब जगह सभी काल होता आया है, वहाँ भी होता है। इसलिए इन कहानियोंमें कम-से-कम आचारतः यह दिखानेकी कोशिश की जाती है कि कमज़ोर दिखनेवाला जीव असलमें कमज़ोर नहीं होता बल्कि अक्लसे बड़ेसे बड़े और मज़बूतसे मज़बूत जानवर तकको हरा सकता है। तभी मज़बूतके बीच कमज़ोरकी वक़त हो सकती है और उसकी ज़िन्दगी निभ सकती है वरना मज़बूतोंकी हस्तीके सामने भला उसकी बिसात ही क्या है। पर जैसे इस क़ुदरतकी बनाई ज़मीनपर घासका तिनका और बरगद दोनों रहते हैं, उसपर चींटी और हाथीको, ख़रगोश और शेरको एक साथ रहनेका हक़ होना चाहिए।

तारकोल या गोंदवाली शेख़चिल्लीकी कहानियाँ हिन्दुस्तान, यूरोप और अफ़्रीका सर्वत्र कही जाती हैं। उनका आरम्भ हिन्दुस्तानमें हुआ या अफ़्रीकामें, यह कहना कठिन है, गो इसमें कोई शुबहा नहीं कि ये कहानियाँ यूरोपमें हिन्दुस्तानसे पहुँचीं। जानवरोंकी कहानियाँ, भारत और यूनान दोनों जगह कही जाती थीं। भारतकी पंचतन्त्रकी कथाएँ और यूनानकी

ईसोपकी कहानियाँ जानवरों और चिड़ियोंसे सम्बन्ध रखती हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि इन दोनों देशोंने कहानियाँ एक दूसरेसे ली होंगी, ख़ासकर इसलिए भी कि उनकी ज़ुबानें दूर-दराज़के जमानेमें एक-सी ही थीं। पर उनके और अफ़्रीकावालोंके बीच मिलती-जुलती कहानियोंका फेर-बदल कैसे हुआ, यह कह सकना आज कठिन है। अफ़्रीकाकी कहानियोंमें जानवरोंकी प्रधानता है और वही बात अपने देशकी पञ्चतन्त्रकी कहानियोंमें है। कुछ अजब नहीं कि एकने दूसरेसे, या असलमें दोनोंने दोनोंसे लिया हो। बात चाहे जो रही हो, ज़ाहिर है कि इन कहानियोंने अफ़्रीकाके घने जंगलोंमें बसनेवाले कलाहीन जातियोंका हज़ारों सालसे मनोरंजन किया है और उनके लोक-साहित्यको सम्पन्न किया है।

यूनानी और रोमन पुराण कथाएँ : १९ :

जब सभ्यता न थी तब भी विश्वास थे। विश्वास तर्क सम्मत भी होते हैं, अन्धविश्वास भी। जब हम बिला वजह बग़ैर तर्क या बुद्धिका इस्तेमाल किये, विश्वास करते हैं तब उसे अन्धविश्वास कहते हैं। आदिम इनसान इस तरहके अन्धविश्वासोंका मरकज़ था। वह अचरज करता था पर अचरजकी चीज़का सही अर्थ या कारण नहीं बता पाता था, गो उसका अर्थ या कारण बतानेकी कोशिश वह ज़रूर करता था। अक्सर उसका अटकल डरसे जुड़ा होता था। इससे घटनाओंकी उसकी व्याख्या भी अधिकतर ख्याली होती थी, जिसका कोई बौद्धिक आधार न होता था।

पर आदिम इनसान सोचता था, गुनता था, रहस्यकी गाँठ खोलनेकी कोशिश करता था। नदी बहती है, झरना गिरता है—उसकी समझमें यह अकारण ही न था। वह सोचता—नदीके जलमें कुछ ज़रूर है जो काँपता हुआ बहता है, झरनेमें कुछ ज़रूर है जो अपने आप तरल होकर भी, अनायास सैकड़ों फुट ऊँचेसे गिरकर भी, नीचेकी चट्टानोंको चूर-चूर कर देता है। बीज मिट्टीमें पड़ता है, ज़मीनकी छाती फाड़ उसका अँखुआ निकल पड़ता है, पौध लहराने लगती है और हरा-भरा पेड़ एक दिन फैले बरगदकी जटाएँ बन अनेकानेक बरगद बन जाता है। उसमें कुछ है ज़रूर जो गुठलीसे पौधा और पौधेसे विशाल तने और अनगिनत डालोंवाला पेड़ बन जाता है। वह आदिम इनसान जलमें, जंगलमें, हवामें सर्वत्र कुछ खोजता, उससे डरता, और काँपते हाथोंसे उसे पूजता, उसे प्रसन्न करनेके लिए उसकी बेदीपर अपने बेटे तकको बलि चढ़ा देता था।

बहनेवाले जल, बढ़नेवाले दरख़्त, अन्न उगलनेवाली ज़मीन, तड़पनेवाली बिजली, गरजनेवाले बादल, सबके भीतर कुछ थे, जो ताक़तवर थे, उससे कहीं ताक़तवर, पर जो उस कमज़ोरको घेरे-घेरे फिरते थे, उसके सुख-दुःखके कारण थे, और जिन्हें वह देवता कहने लगा। ये देवता प्रकृतिके डरावने और सुहावने रूप थे जिनको विना देखे भी, उनके असरसे, आदमीने पहचाना और अपना त्राता और संहारकर्ता माना।

उस आदि मानवको लगा कि यह सारा चराचर जगत् उन्हीं हस्तियोंका सिरजा हुआ है, उन्हींके खेलसे बनता, बदलता और बिगड़ता है। और चूँकि आदमी आदमीसे बढ़कर, अपनेसे बढ़कर, ख़ल्कमें कुछ और नहीं पाता था, उसने अपने देवताओं या क़ुदरतकी छिपी हस्तियोंको आदमीके ही रूप-रंगका, पर ताक़तमें उससे कहीं महान् माना, और उन देवताओंमें इनसानकी इनसानियत, उसके राग-बैर, लोभ-क्रोध, जन्म-मरण, सब भर दिये। उसके देवता रहते तो आसमानमें थे पर विचरते इनसानी दुनियाके बीच जंगलों और पहाड़ोंमें, नगरों और बस्तियोंमें थे।

विश्वासकी इस भूमिपर वैसे तो सभी मानव जातियाँ प्रायः समान थीं, सबने इस प्रकार अपने बीच विचरनेवाले देवताओंको सिरजा, पर निःसन्देह हिन्दुओं, यूनानियों और रोमनोंके देव-परिवार अधिकतर एकसे थे, इनसानकी तरह ही एक दूसरेसे प्यार-दुश्मनी करनेवाले, मरने-मारनेवाले। यही वजह है कि उनके देवता मनुष्योंकी तरह ही आचरण करते हैं, लड़ाइयाँ हारते और जीतते हैं, राज करते हैं। इस तरहके जन-विश्वासोंमें विश्वासकी गुंजायश ज्यादा अक्लकी कम थी, और देवताओंकी कपोलकल्पित कहानियोंका एक संसार ही खड़ा हो गया जिसे मामूली तौरपर हम पुराण कहते हैं।

ग्रीकों और रोमनोंके ऐसे पुराण करीब-करीब एक हैं। कारण कि ग्रीकोंकी संस्कृतिके बाद ही अधिकतर रोमनोंकी संस्कृतिका विकास हुआ और ग्रीक संस्कृतिके कमज़ोर हो जानेपर रोमनोंने उसे निगलकर जज्बकर

लिया। इसीसे रोमन देवता बदले नामोंवाले ग्रीक देवता ही हैं। ग्रीक देवताओंकी कहानियाँ ही रोमन देवताओंकी कहानियाँ बन गई हैं। फ़र्क बस इतना है कि जहाँ ग्रीकोंकी अनेक जातियाँ, अनेक बस्तियाँ, अनेक नगरियाँ थीं, रोमनोंकी प्रायः एक जाति थी, अधिकतर एक ही तंग घाटीमें बसीं। इससे जहाँ ग्रीकोंके देव-परिवारों और विश्वासों-पुराणोंमें अनन्त विविधता थी, रोमनोंके विश्वास-पुराणोंमें अनेकता बहुत कम बन सकी।

१

नीचे हम विशेषतः ग्रीक या यूनानी देवताओंकी घरेलू कहानियाँ कहेंगे; उनके राग-द्वेष, लड़ाई और मौतकी कहानियाँ, मिटने और बसनेकी कहानियाँ, हारने और जीतनेकी कहानियाँ। ख़्याल यह था कि ज़मीन और उसपर रहनेवालोंको सिरजनेवाले वे देवता ही थे और उन्होंने एक फैले धुन्धसे ज़मीनको ठोस बना उसे समुद्रके पानीसे घेरा। ज़मीन फैली हुई चिपटी थी, जिसके ऊपर आसमानका चँदोवा तना था, जिसके सिरे ज़मीनके सिरोंकी पहाड़ी चोटीसे लगे हुए थे। और इन्हीं आसमान और ज़मीनके बीच देवताओंका निवास था, फिर ज़मीनके नीचे पातालमें भी। ग्रीस देशमें ओलिंपस् पहाड़ है जिसकी कमरके गिर्द कुहरा छाया रहता है और जिसकी चोटी बादलोंको छेदकर उनपर अपना साया डालती है। बर्फ़से सफ़ेद चोटीपर देवताओंके महल हैं, जहाँसे वे इनसानके कारनामे देखते रहते हैं। यूनानी विश्वासोंके इतिहासमें एक ज़माना ऐसा भी आया जब देवताओंका निवास ओलिंपस्की चोटीसे उठकर आसमानसे परे दूर चला गया जहाँसे वे दुनियाके कारनामे ओलिंपस्की चोटीके पासके एक झरोखेसे देखने लगे। वैसे ओलिंपस्की चोटीके महलोंमें ही उन ग्रीक देवी-देवताओंका निवास था जिनका राजा ज्यूस् था। उसी ज्यूस्को रोमन जूपितर कहते थे। ज्यूस्के साथ ग्यारह और देवी-देवताओंका

ओलिंपस्पर निवास था। इनके नाम थे, हिरा, हर्मिस, अथेनी, अपोलो, आर्तेमिस्, अरेस्, अफ़्रोदीती, हेफ़ाइस्तस्, हेस्तिमा, पोसिदन और दिमितर।

ग्रीक देवताओं और देवियोंकी पैदाइश और लड़ाईकी कहानी बड़ी दिलचस्प है। ऊरेनस् आसमानका देवता था, स्वयं आसमान, ग्रीकों-का पहला देवता। उसने अपनी माँ ज़मीनको व्याहा, जिसका नाम गाइया था। इस व्याहसे जो देवता या दैत्य पैदा हुए वे तितान, हेकातोचीरी, और कीवलोप कहलाये। तितानोंका नाम अपने पिताके नाम सरीखा ही ऊरेनिदाई पड़ा। वे संख्यामें छः थे और उन्होंने अपनी छः बहनोंसे विवाह कर लिया। ऊरेनस्को डर लगा कि दैत्याकार लड़के कहीं उसे मार कर उसकी बादशाहत न छीन लें। इससे उसने उन्हें पकड़ कर पातालमें क़ैद कर दिया। उसकी रानी गाइयाको अपने बेटोंकी क़िस्मतपर बड़ा रोना आया, और उसने उनकी रक्षा करनेपर कमर कस ली। क्रोनस् उसका सबसे छोटा बेटा था। उसने एक हँसिया बनाकर क्रोनस्को दिया और बापके ख़िलाफ़ उसे ललकारा। क्रोनस्ने अपने पिता ऊनस्को घायल कर अपने भाई तितानाको पातालसे आज़ाद कर दिया। इन्हीं तितानोंने, अपने पिताके पतनके बाद अपनी बहनोंको व्याहा और देवताओंका अनगिनत परिवार पैदा किया। तितानोंका देव-परिवार गिगान्तियोंके जोगसे और बढ़ चला। गिगान्ती ऊरेनस्के ख़ूनकी बूँदोंसे पैदा हुए थे।

रोमनोंका देव-परिवार भी इसी प्रकार अलौकिक देवताओंसे भरा था। उनके दैत्योंको लारची कहते थे, जो उन मुर्दों तकको ज़मीनसे उखाड़ लेते थे जिनके पापोंको क्षमा न मिली थी।

२

अब क्रोनस्की कहानी सुनिए। क्रोनस्ने, पिताकी गद्दी ले चुकनेपर, अपनी बहन रियासे शादी की। उससे उसे तीन बेटे और तीन बेटियाँ

हुईं। ऐदीज़, पोसिदन और ज़्यूस् बेटे थे और हेस्तिया, दिमितर और हिरा बेटियाँ थीं। एक दिन क्रोनस्को भविष्यवाणी हुई कि चूँकि उसने अपने पिताको गद्दीसे उतार दिया है, उसे भी उसके बेटे गद्दीसे उतार देंगे। फिर तो उसने डर कर अपने पाँच बच्चोंको निगल लिया। और तब रियाने अपने सबसे सुन्दर छठे बालकको जना। उसकी खूबसूरतीसे माँका प्यार उसपर बरस पड़ा और उसने निश्चय किया कि जानकी बाज़ी लगाकर वह बेटेकी रक्षा करेगी। सो रियाने एक पत्थरको नवजात शिशुके रूपमें कपड़ोंसे लपेट कर तथा बेटा कहकर अपने पतिको दिया और क्रोनस्ने उसे चबा डाला। कहानी मथुराके कंसकी कथासे किस क़दर मिलती है, कहना न होगा।

इस तरह अपने पतिको धोखा देकर रियाने बेटे ज़्यूस्को क्रताके टापूमें भेज दिया, जहाँ उसे एक गुफामें छिपा रखा गया। वनकी देवियोंने नये देवताको दूध पिलाया, मधुमक्खियोंने शहद ला-ला कर उसे दिया और गरुड़ने स्वर्गके अमृतसे उसे सींचकर अमर कर दिया। रियाके अनुचरोंने ज़्यूस्के चारों ओर नाच-नाच कर तलवारों और ढालोंके शोरसे उसकी आवाज़ दबा रखी जिससे क्रोनस् उसे सुन न ले और उसकी ज़िन्दगीके लिए ख़तरा पैदा न कर दे।

जब ज़्यूस् सयाना हुआ, वह माँके पास पहुँचा और उसके साथ साजिश कर उसने पिताको मजबूर किया कि निगले हुए अपने बच्चे वह उगल दे। उगले हुए भाइयोंने ज़्यूस्की फ़ौरन् मदद की और ज़्यूस्ने पिता क्रोनस्को स्वर्गकी गद्दीसे नीचे ढकेल दिया। स्वर्गकी गद्दी अब उसकी हुई। पर क्रोनस्के भाई तितान इसे सह न सके और ज़्यूस्के देवताओं और दैत्यों (तितानों) में घमासान छिड़ गया।

तितानोंने ज़्यूस्से बग़ावत कर दी, और गो फ़तह ज़्यूस्की हुई, लड़ाई एक अरसे तक होती रही। ग्रीक पुराणोंका कहना है कि यह प्रलयंकर लड़ाई थेसालीके मैदानमें हुई। ओलिंपस्की चोटीपर ज़्यूस्का सिंहासन

जमा, जहाँ अपने देव-परिवारके साथ देवराजने डेरा डाला। सामने ओथ्रिस् पर्वतके शिखरपर तितानोंके साथ उनका नेता जापेतस् जम गया। ज़्यूस्को उस लड़ाईके दरमियान बड़े-बड़े सदमें सहने पड़े और अन्तमें उसने हेकातेन्चीरियों और कीक्लोपोंसे मदद लेनेकी ठानी। वे पातालमें अब भी क़ैद थे। उन्हें उसने आज़ाद कर दिया और वे अपने भयंकर हथियारों—बिजली, वज्र और भूकम्पके साथ ज़्यूस्की मददको आ पहुँचे। आख़िर दुश्मन सर हो गये और उन्हें चट्टानोंके नीचे लोहेकी दीवारके पीछे पातालकी देवी हिकेतकी हुकूमतमें उस दोज़खमें दबा दिया गया जहाँ सदा सर्दी और अँधेरेका राज रहता है। तीफ़ोन, जो गाइया और तारतारस्का बेटा था, आँधी और बवंडरका दैत्य था! उसकी ताक़तका कोई अन्त न था। ज़्यूसके वज्रसे वह आहत हुआ।

ग्रीक देवताओं और दैत्योंकी इस लड़ाईकी कहानियाँ कवियोंके गायनके विषय बन गईं।

३

ग्रीक पौराणिक कथाओंमें बड़ा मनोरंजक स्थान प्रेमकी देवी अफ़्रोदीतीका है। अफ़्रोदीतीका ही नाम रोमन पुराणोंमें वीनस् पड़ गया है। ग्रीकों और रोमनोंने वीनसकी अनेक अमर मूर्तियाँ बनाईं, जैसे ग्रीक कलाकारोंने अफ़्रोदीतीकी बनाई थी। अफ़्रोदीतीका जन्म समुद्रके नीले फेनसे हुआ। बोतीचेली नामक प्रसिद्ध इटालीय चित्रकारके एक चित्रमें उसके जन्मका चित्रण हुआ है। उसमें वह सीपपर चढ़ी समुद्रके फेनसे निकल रही है। इस प्रेमकी देवी अफ़्रोदीतीके आकर्षणकी कोई सीमा नहीं और देवता और मनुष्य दोनों उसके प्यारके भूखे और मारे हैं। लेमनास नगरकी कथामें उसका पति हेफ़ाइस्तस् है, थीबिज़ नगरमें अरेस्। त्रायके राजपुत्र अंकिसिस्को भी उसने अपने प्यारका भागी बनाया। पर उसकी मुहब्बतकी कहानियोंमें सबसे प्यारी कहानी अदोनिस् नामके उस गड़ेरिये नौजवानकी

है जिसे उसने अपना प्यार दिया था पर जिसे जंगली सुअरने मार डाला। पहली बार अफ़्रोदीतीके हियेमें मुहब्बतका दर्द उमड़ा और वह दर्द किसी तरह दूर न किया जा सका। बेचैन हो–हो वह अपनी प्यारी लाशको चूमती रही, उसे छोड़नेको राज़ी न हुई। तब देवताओंने उसपर रहमकर ऐलान किया कि वह आधा साल ऊपरी दुनियामें अफ़्रोदीतीके साथ बिताया करेगी और बाक़ी आधा पातालमें पर्सिफ़ोनके साथ। अदोनिस् तबसे गर्मियोंका प्रतीक बन गया है, वसन्तका हरकारा। इटलीमें अप्रैलके महीनेमें जब फूल और पौधे वसन्तको निहाल करने लगते हैं तब ऊपरी दुनियामें अदोनिस् लौटता है और वीनसके साथ वन-काननमें विचरता है। रोमन नागरिक उस अवसरपर प्रेमकी देवीकी पूजामें विभोर हो उठते थे। अफ़्रोदीती और वीनसके अनेक मन्दिर ग्रीस, इटली, मिस्र, सीरिया आदि-में बने।

४

एरोस् और साइकीकी कहानी कहे बग़ैर ग्रीसकी पौराणिक कथाओंको समाप्त करना कठिन होगा। एरोस्, अफ़्रोदीती और अरेस्का पुत्र था। ग्रीक देवताओंमें वह सबसे सुन्दर और सबसे कमउम्र माना जाता है। वह पंख और धनुष धारण करता है और अक्सर मूर्तियोंमें उसका रूप बालक-सा गढ़ा जाता है। साइकी, क्रेता टापूके राजाकी बेटी थी और उसे देवताओंने ऐसी ख़ूबसूरती दी थी कि अफ़्रोदीतीको भी उससे लजाना पड़ता था। इसीसे अफ़्रोदीती उससे डाह करने लगी थी। उसने एरोस्के ज़रिये ही साइकीका नाश करना चाहा। एरोस्को जब उसने उसके ख़िलाफ़ भेजा तब साइकीके रूपका जादू उलटे एरोस्पर ही चल गया और वह उसकी मुहब्बतमें दीवाना हो गया। इसी बीच साइकीके पिताने अपोलोसे सगुन बिचरवाया था। सगुनने उसे राय दी कि राजा अपनी बेटी साइकी-को दुःखसूचक कपड़े पहनाकर एक ख़ास चट्टानके ऊपर ले जाकर छोड़ दे। बेटी डैनोंवाले दैत्यका इन्तज़ार करे और उसके आनेपर उसकी

बीबी हो जाय। पिताने सगुनका यह कठिन आदेश रो-गाकर पूरा किया। पर जैसे ही साइकी चट्टानके पास अकेली छोड़ी गई उसे एक बादलने ढक लिया और हवाके हलके झोंकेने उसे उठाकर एक ख़ूबसूरत महलमें पहुँचा दिया। वहाँ हर रात दिन डूबते ही उसके पास एरोस् जा पहुँचता पर वह खुद उसे देख न पाती। न उसने उसका नाम ही जाना, न यही कि वह कौन था, और उसे सख़्त ताकीद भी कर दी गई कि वह यह जानने-की कोशिश तक न करे कि उससे मुहब्बत करनेवाला कौन है। लेकिन जब साइकीकी बहिनें उसके ख़ूबसूरत महलको देखने आयीं तब उन्होंने उसे मौक़ा मिलते ही अपने प्रेमीको पहिचानकर कुतूहल शान्त करनेके लिए तैयार किया। इसलिए साइकी चिराग़ लेकर एरोस्के पास चुपकेसे दबे पाँव पहुँची और उसपर झुकी। जब उसने देखा कि सोया हुआ नौजवान अफ़ोदीतीका बेटा है तब वह इस क़दर घबरा गई कि उसने चिराग़के जलते तेलकी एक बूँद अपने प्रेमीके नंगे कन्धेपर गिरा दी। देवता जग उठा, उसने उसके कुतूहल और असंयमके लिए धिक्कारा और वह महल छोड़कर चला गया। साइकी बेचैन हो उठी। उसके दर्दकी कोई दवा न थी और वह दर-दर फिरती समूची दुनियामें अपने प्रियको ढूँढ़ती रही। उसी बीच वह अफ़ोदीतीके महलमें जा पहुँची। अफ़ोदीतीने उसे क़ैदकर लिया और उससे गुलामोंका काम लेने लगी। पीछे तो उसने उसके धीरज-को परखनेके लिए उसे बड़ी ही मुसीबतमें डाला। उसने उसे पाताल भेजकर पर्सीफ़ोनके यहाँसे सिंगारकी पेटी मँगवाई। उसकी मुसीबतके समय एरोस् छिपे-छिपे बराबर उसके साथ रहा था, वरना वह अपनी मुसीबतों-का शिकार हो गई होती। जब उसने पेटी लाकर खोला, उसमेंसे ज़हरीली भाप निकलने लगी जिससे बेहोश होकर वह ज़मीनपर गिर पड़ी। एरोस् अब और छिपा न रह सका। उसने दौड़कर उसे अपनी बाहोंमें भर लिया और प्यारसे उसे जिला लिया। अफ़ोदीतीका क्रोध अब शान्त हो गया और ओलिंपस्के देवताओंके बीच दोनोंका विवाह हो गया।

५

जानुस् देवता ग्रीकोंका जाना न था। वह ग्रीक देवताओंसे भिन्न केवल रोमनोंका देवता था और रोम देवताओंमें उसका स्थान बहुत ऊँचा और महत्त्वका था। दुनियाकी सारी चीज़ोंका वही मूल कारण माना जाता था, सालों और ऋतुओंका वही विधाता था, वही भाग्यका प्रेरक भी था और उसीकी दयासे मानव जाति और उसकी कलाओंका विकास होता था।

लोककथाओंके अनुसार जानुस् लातियम्का राजा था। सुनहरे युगमें, जब देवता और आदमी कन्धेसे-कन्धा मिलाकर पृथ्वीपर विचरते थे तब, उसने राज किया था, मन्दिर खड़े किये थे, इनसानको अनेक लाभकर कलाएँ सिखायी थीं। जानुस्के नामपर ही सालके पहले महीने, जनवरी, का नाम पड़ा।

ग्रीक या यूनानी शान्तिके प्रेमी थे, युद्धके नहीं, गो उन्हें लड़ाइयाँ अनेक लड़नी पड़ी थीं और लड़ाई लड़नेमें वे प्रवीण भी थे। रोमन, इसके विपरीत, युद्धप्रिय थे और साम्राज्यका विस्तार उनका परम ध्येय था। अपने ज़मानेका सबसे बड़ा दुनियाका साम्राज्य उन्होंने ही खड़ा किया था। उन्हें आये दिन लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती थीं। उनकी संस्कृतिमें सेनाकी व्यवस्था और संचालनका महत्त्व असाधारण था और जानुस् युद्धमें जीतका देवता था। वह अपनी रोमन जनताके साथ मैदानमें खड़ा होता था, ऐसा रोमनोंका विश्वास था, और इसीलिए रोमके संकटोंके समय उसके मन्दिरके पट सदा खुले रहते थे। जानुस्के सम्बन्धमें भी अनेक पौराणिक कहानियाँ कही जाती हैं। चारणों और कवियोंके लिए तो युद्ध सम्बन्धी उसकी कहानियाँ विशेष प्रेरणाकी चीज़ बन गयी थीं।

× × ×

ग्रीकोंकी पुरानी कहानियोंमें देवताओंका ज़िक्र बार-बार आता है।

कई दफ़े आदमियोंके पुरखे ही देवता बन जाते हैं और अनेक बार देवता मनुष्योंसे विवाह सम्बन्धकर उनके पुरखे बन जाते हैं। फिर तो उनका आपसी व्यवहार बराबर वालोंका-सा होने लगता है। देवताओंके बेटे अनेक बार ग्रीक कथाओंमें घटनाओंके नायक रहे हैं, अनेक लड़ाइयाँ उन्होंने ग्रीसके नगरोंके नागरिकोंके बीच हारी-जीती हैं। इतिहासप्रसिद्ध त्रायकी इस लड़ाईमें अनेक देवताओंके बेटोंने भाग लिया था जिसकी कहानी अन्धे कवि होमरने अपने अमर काव्य "ईलियद" में गाई है। आकिलोज़, देवताका बेटा, उस काव्यकी नायिका हेलेनके प्रेमी और चोरका प्रधान शत्रु था। त्रायके युद्धके नायकोंकी कहनी देवताओं और उनके बेटोंसे गुँथ गई है, ठीक उसी तरह जैसे हमारे महाभारतके उन पाण्डवोंकी कहानी जो देवताओंके बेटे कहे जाते हैं, उसी तरह जैसे सिकन्दर अपनेको हरकुलीज़का बेटा मानता था, जैसे सीज़र अपनेको जूलस् और वीनसका वंशज और अन्तोनी दियोनिसस्का, जैसे चीनी सम्राट् अपनेको सूरजके पुत्र मानते थे, जैसे भारतके कुषाणोंका राजा कनिष्क अपनेको 'देवपुत्र' लिखता था।

मध्यकालीन कलाकी पीठिका : १६ :

कला और साहित्य समाजके प्रसार हैं। दोनोंमें समान स्वर बोलता है और वह स्वर समाजप्रेरित होता है। कल्पनाकी सूक्ष्मतम भावभूमि समाजकी स्थूलतम पृष्ठभूमिसे लगी रहती है। उदाहरण लीजिए, मध्यकालीन जगत्से पहलेका उदाहरण है पर स्थितिको साफ़ समझा देता है—

नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडाम् ।
गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः ॥

अजन्ताकी दीवारोंपर बुद्धके भाई नन्दका चित्रण हुआ है। नन्द संघके विहारमें लाया गया है। पर उसकी आकुल प्रिया प्रासादमें उसकी प्रतीक्षा कर रही है और वह भागकर उसे भेंट लेना चाहता है। बार-बार वह भागनेका प्रयत्न करता है, बार-बार उसे रोक लिया जाता है। नारीको तृष्णाका उद्गम माननेवाले भिक्षुओंको भला उस मधुर भावबन्धनका भान क्या, जो संचित दाम्पत्य और नवविवाहित दम्पतिमें होता है? वर्ण और रेखामें बँधा वह भावस्रोत दोनोंको लांघ जाता है। पर अश्वघोषकी वह पृष्ठभूमि, जिससे कलाका यह दर्शन हुआ, उससे कहीं सबल है।

पिछली शाम नन्द और सुन्दरीका विवाह हुआ है। दोनों एक-दूसरेसे मधुर भावबन्धसे जुड़े हैं। रजनीके पर्यवसानके बाद बिहान हुआ है और विलासकी उन्मद भावना सारे परिवारको नवीन व्यस्ततामें भर देती है। कोई स्नानके लिए जलको फूलोंसे बासने लगता है, कोई अंगराग और अवलेप तैयार कर रहा है, कोई चन्दन और अगुरुकी धूमवर्तिका बनानेमें लगा है, कोई पत्र-विशेषकके लेप फेंट रहा है, कोई फेनकका झाग उठा

रहा है। ग़रज़ कि सभी व्यस्त हैं—अनुचर, वामन, कुब्ज, चेट-चेटी सभी। उन सबका केन्द्र सद्यःपरिणीत परिवारके प्रभुका विलास है और प्रासादका वह प्रभु नन्द प्रकोष्ठके एकान्त अट्टमें, अलिन्दके सामने, अपनी प्रिया सुन्दरीके कपोलोंपर पत्र-लेखन कर रहा है। मदनकूपसे राग-रेखाएँ उठ-उठकर कपोलोंकी श्वेतभूमिको रक्ताभ कर देती हैं और उन रेखाओंपर टहनियाँ और टहनियोंपर नवपल्लव, कोमल किसलय धीरे-धीरे उभरते आ रहे हैं। ठीक तभी प्रासादकी देहलीमें तथागतका भिक्षापात्र बढ़ आता है, पर उसे कोई देख नहीं पाता या देखकर भी उधरसे लोग आँखें फेर लेते हैं। सम्यक् सम्बुद्ध रिक्तपात्र कपिलवस्तुके राजमार्गपर लौट पड़ते हैं। कपोलोंपर भक्ति रचता हुआ नन्द तथागतको रिक्तपात्र ऋद्ध प्रासाद-से लौटते देखता है और उसे सुन्दरीको दिखाता हुआ पूछता है—अब क्या होगा, प्रिये? सभीता मृगी घबराकर पूछती है क्या होगा, प्रिय? पूछता है—मना लाऊँ? उसका मन मथ जाता है, विलास आकर्षक है, मदन उच्छृङ्खल, पर अपराध बड़ा है। कहती है—जाओ, प्रिय, मना लाओ। पर जल्दी लौटो, इतनी जल्दी कि कपोलोंके ये गीले रंग अभी गीले ही रहें। और चला जाता है रोमाञ्चित नन्द, आकुल नेत्रपथके परे। और फिर लौट नहीं पाता। तथागत और उसके भिक्षु प्रणय कमलपर तुषार बन जाते हैं। नन्द नहीं लौटता। सुन्दरीके कपोलोंकी गीली रेखाएँ सूख जाती हैं। दिन, सप्ताह सरक चलते हैं, पर वह नहीं लौटता जिसने उन्हें लिखा था।

अनेक-अनेक गृहस्थोंकी दुनिया बौद्ध प्रव्रज्याके उस आघातसे उजड़ गई होगी, अनेक-अनेक मधुर राग-बन्धन दम्पतिके परस्पर वियोगसे टूट गये होंगे, जिस पृष्ठभूमिसे उठकर अजन्ताकी तूलिका और अश्वघोषकी लेखनीसे अनुरागके वे चित्र लिखे गये।

मध्यकालीन कलाकी भी इसी प्रकारकी भावगर्भित सामाजिक पीठिका है। दण्डी और बाणभट्टने अपने दशकुमारचरित और कादम्बरीमें जिस

समाजका वर्णन किया है वह उस कला-संचयकी भी पृष्ठभूमि है उड़ीसा और बुन्देलखण्ड जिसके धनी हैं। कामुक, घिनौना, दूसरेकी भावसत्ताको अपने लिजलिजे करोंसे छूनेवाला जन-परिवार उस समाजका परिचायक था जिसके सारे सामाजिक आचार, सारे आदर्श कुण्ठित हो चुके थे, जो इसे भूल चुका था कि रूपकी सार्थकता उसके देखनेवालेके नयनमें है।

अभिराम शक्तिम मन्दिरोंका तत्कालीन परिवार भी अपने नग्न विलासकी सम्पदा लिये उसी घिनौनी पृष्ठभूमिसे उठा था। गुप्तकालने अपनी निष्ठा और लगनसे पहलेके रूढ़िनिविष्ट मानोंको त्यागकर अवयव-आनत यथादर्शन मानवको उसके स्वाभाविक रूपमें देखा, कोरा और लिखा था। उसका परिष्कार उस युगकी देन थी। मध्यकालमें अधिकतर वह कलाभूमि कलाकारके दृष्टिपथसे ओझल हो गई। शिथिलसमाधिके दोषी कलावन्तने यथार्थसे विमुख हो अलौकिककी उपासना आरम्भ की और शिष्ट परिष्कारकी कमीको उसने अमर्यादित अलंकरणसे पूरा किया। वह अलंकरण धीरे-धीरे इतना व्यापक हो उठा कि शरीर उससे ढक गया—प्रधान गौण हो गया, गौण प्रधान।

भुवनेश्वर, कनारक, पुरी, खजुराहो आदिके मन्दिरोंपर, उनके बहिरंग-को उभारता अन्तरंगको ढकता, अलंकरणका जाल उनके कलेवरपर फैला। सैकड़ों-सैकड़ों अकार्य, कामुक आचरण अपने रूप परिवारकी शृंखलासे उन्हें घेर चला, सदियों घेरे रहा और इस प्रकार उसने मानवके बोधको दूषित कर दिया, उसकी पूजाको अपावन। वह सारा उसी सामाजिक पीठिकाका परिणाम था जिसके परिणाम दण्डीका दशकुमारचरित और बाणभट्टकी कादम्बरी थे।

वह समाज किन आदर्शोंसे अनुप्राणित था? उस समाजमें आदर्श न थे, व्यवस्था न थी। गुप्तोंकी स्मृति-संस्कृति हूणों, आभीरों-गुर्जरोंकी चोटसे टूक-टूक हो चली थी। स्वयं स्मृतियाँ अपने भीतर, अपनी व्यवस्थाके

नाशके बीज लिये उठी थीं और अस्पृश्यों, संकरों, अन्त्यजोंकी अनन्त परम्परा सिरजकर उन्होंने मानव जातिके असंख्य कुलोंको पशु बना दिया था। और अब उनकी अपनी प्रतिष्ठित वर्ण-व्यवस्थाकी बारी थी।

समाजका क्या रूप था ? स्मृति-पद्धति टूट चुकी थी, उसके उन्नायक और सूत्रधार दुर्बल काँपते करोंसे जहाँ-तहाँ टूटे सूतोंको जोड़नेका प्रयत्न कर रहे थे। अब न ब्राह्मणराजा वाकाटक थे, न अश्वमेधयाजी भारशिव नाग, और न परम भागवत गुप्त। प्राचीन राजन्यों और क्षत्रियोंकी कमज़ोर परम्परा टूक-टूक हो चुकी थी, आबूके अग्निकुलीन राजपूत हूणोंकी शक्तिसे प्रबल हो चले थे। वे निश्चय प्रबल थे और इस धराके सौभाग्यके रूपमें उठकर उन्होंने दीर्घकाल तक इसकी रक्षा भी की, पर वे वास्तवमें स्मृतियोंकी संकीर्णताके जवाब थे। पूरबमें पालोंका शक्तिमान उदय हुआ था, उन पालोंका जो बौद्ध थे, शूद्र थे, वर्ण और ब्राह्मण विरोधी थे। सिन्धमें शूद्रोंका परिवार राज कर रहा था। साहित्यका संरक्षक परमार राजा भोज श्लोकोंके चरण-चरण पर तो लाख-लाख सुवर्ण दान करता, पर देशके शत्रुसे लड़ने गये राजाओंकी राजधानी लूटकर राष्ट्रीय अपराधका दोष करते भी नहीं हिचकता था। कश्मीरमें कामुकी मेधाविनी क्रूर रानी दिद्दा पराक्रमी सेनापतिके साथ स्थल-स्थलको संकेतस्थान बनाती जीवनके सारे आदर्शोंको चुनौती दे रही थी और तुर्कशाही प्रायः अकेले काबुलके परकोटोंपर सन्तरियोंका आचरण कर रहे थे।

राजनीतिसे जनता उदासीन थी, क्योंकि जनता उस राजनीतिसे वंचित रही थी, क्योंकि साहित्यकारने उसे राजनीति-विहीन प्रणयबोझिल साहित्य दिया। यह वह दूरकी पृष्ठभूमि थी जिससे दूरका वह परिणाम निकला जिसमें जब १८ सवारोंके साथ बख़्त्यार नालन्दा पहुँचा तब भिक्षुओंने उनकी तलवारोंके सामने अपने सिर झुका दिये। वह उत्तरप्रदेश और बिहारकी भूमि रौंदता हुआ चला गया, पर जनताके कानों जूँ न रेंगी और जनताका रक्षक लक्ष्मणसेन नदियाके राजप्रासादके पिछले द्वारसे

गीतगोविन्दके गायक जयदेवके साथ निकल भागा। फिर उस पृष्ठभूमिका ही वह दूरका परिणाम था कि जब तैमूरने सँभालकी असुविधाके कारण अपने एक लाख क़ैदी मार डाले, तब पासके गाँव अपने क्रिया-बन्धनोंमें लगे थे और कि जब राणा सांगा अपने सवारोंके साथ समूचे मध्य एशियाके लड़ाकोंसे कनवाहेके मैदानमें जूझ रहा था तब पासका किसान चुपचाप हल जोत रहा था। पर यह तो सच ही दूरके परिणाम थे। पाल कलाकी, कलिंग कलाकी, चंदेल कलाकी पृष्ठभूमि क्या थी? दशकुमारचरित और कादम्बरीकी परम्परामें जब लोग वारांगनाओंके अनन्य उपासक हो गये थे, किन्नरियों और विद्याधरियोंके काल्पनिक जगत्को कैलासकी छायामें मानसरोवरकी सिकता भूमिपर उतार लाये थे, उस परम्परामें मध्यकालीन कलिंग और चन्देल कलाकी पृष्ठभूमि क्या थी?

शाक्तोंकी प्राचीन तन्त्र पद्धति अनेक रूपोंसे आसाम और बंगालकी जनतामें सक्रिय थी। मातृरूपिणी नारी जब कुमारीके आकर्षणसे मण्डित हुई और पूजाके पुष्प जब उसकी नग्नतापर चढ़ने लगे तब साधकके औघड़ होते क्या देर लगती? और उस तान्त्रिक साधकको सिद्धान्त और शक्ति दी वज्रयानी सिद्ध और उपासक ने।

हीनयानका यान निस्संदेह हीन ही था, ओछा, महायानका उसी मात्रामें महान्, उदार। उसने निर्गुण अर्चनाको सगुणका आकर्षण दिया। सगुणकी शक्ति उसके रूपमें है और रूपकी परिधि रागसे पलती है। महायानसे निकाले मन्त्रयानने उस रूपकी सत्ताको रागकी अनेकानेक धाराओंसे सींचा। वज्रयानने रागको प्रधान माना, त्याज्यको ग्राह्य, संयमको सिद्धिका शत्रु, और उसने कलिंगमें महेन्द्र पर्वतपर उसे वज्रकी संज्ञा दे प्रण किया कि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर नहीं, भोगकी अनन्यतासे उन्हें कुण्ठित कर वह तृष्णा या तन्हाकी विजय करेगा। उसने ऐलान किया कि जो ब्राह्मणोंका धर्म है वह हमारे लिए अधर्म होगा, जो अधर्म है वही हमारे लिए धर्म होगा, कि उनका अखाद्य हमारा खाद्य

होगा, उनका अपेय हमारा पेय और कि जो सिद्धि तप और साधन, योग और दर्शन, यज्ञ और अनुष्ठान नहीं प्राप्त कर सके थे वह रजक और चांडाल कन्याके सहयोगसे प्राप्त होगी। बौद्ध शूद्र पालोंका प्रायः कामरूप, बंगाल, उड़ीसा, बिहार, काशी, प्रयाग तककी भूमिपर अधिकार हो गया था और उस एक सत्ताने इस वज्रयानकी प्रतिज्ञाको सफल होनेमें भरपूर सहायता दी। तान्त्रिकोंकी शक्ति जब एक दिन बौद्धोंकी तारा प्रज्ञा-पारमिता बन गई, तब दोनोंका संयोग उस दिशामें व्यापक शक्तिका परिचायक हुआ। मरमिया, सहजिया, औघड़, कापालिक अनेकानेक स्मृति-विरोधी, ब्राह्मण-विरोधी, वर्ण-विरोधी, समाज-विरोधी पन्थ चल पड़े, जिन्होंने भोगको इष्ट माना, संयमको साधनाका शत्रु। वज्रयानी सिद्धोंमें अधिकतर नीच वर्णोंके थे, अनेक वर्णच्युत ब्राह्मण थे, और उन्होंने स्मृतियों की व्याख्यापर प्रबल प्रहार किये। कलिङ्गसे बुन्देलखण्ड तक, कामरूपसे सह्याद्रि तक सारे मन्दिर उनके हाथमें आ गये। उन मन्दिरोंके भीतर गृहस्थोंके भगवान् थे, बाहर अद्भुत सौन्दर्यकी नग्नता थी—यौन आसनोंके अनन्त रूपायन थे।

यह सामाजिक पृष्ठभूमि ही उस कलाकी जननी हुई, जो मध्यकालमें विशेषतः मूर्त हुई।

अजन्ता और एलोरा

: १७ :

ज़िन्दगीको मौतके पञ्जोंसे मुक्त कर उसे अमर बनानेके लिए आदमीने पहाड़ काटा है। किस तरह इन्सानकी खूबियोंकी कहानी सदियों बाद आनेवाली पीढ़ियों तक पहुँचाई जाय इसके लिए आदमीने कितने ही उपाय सोचे और किये। उसने चट्टानोंपर अपने सन्देशे खोदे, ताड़ोंके ऊँचे धातुओंसे चिकने पत्थरके खम्भे खड़े किये, ताँबे और पीतलके पत्तरोंपर अक्षरोंके मोती बिखेरे और उसके जीवन-मरणकी कहानी सदियोंके उतारपर सरकती चली आई, चली आ रही है, जो आज हमारी अमानत-विरासत बन गई है।

इन्हीं उपायोंमें एक उपाय पहाड़ काटना भी रहा है। सारे प्राचीन सभ्य देशोंमें पहाड़ काटकर मन्दिर बनाये गये हैं और उनकी दीवारोंपर एक-से-एक अभिराम चित्र लिखे गये हैं। मिस्रमें आजसे हज़ारों साल पहले पहाड़ोंकी दीवारें काटकर खोखली कर ली गई थीं और उनमें जिस्मको साबुत रखनेके लिए ममी बनाकर मुर्दे दफ़ना दिये गये थे। उनकी या मिस्रके पहाड़ी मन्दिरोंकी दीवारोंपर मृतकों या देवताओंके इक़बालकी कहानी चित्रकारीके अक्षरोंमें भी लिख दी गई थी।

चीनमें भी पहाड़ काटकर सैकड़ों मन्दिर प्राचीन कालसे बनाये गये थे। उस महान् देशके उत्तर-पश्चिमी कोनेमें कान्सू नामका वह सूबा है जहाँ कभी वह भयानक हूण जाति रही थी जिसने रोम साम्राज्यकी रीढ़ तोड़ दी थी। उसी जातिके कबीलाई रिसालोंने भारतके गुप्त साम्राज्यका नाशकर हमारे इतिहासके स्वर्ण-युगका अन्त कर दिया था। पर इसके बदले उन्हीं दिनों हमारे महात्माओंने सैकड़ों मील लम्बे-चौड़े बीचके रेगि-

स्तान लाँघकर कान्सूको सर कर लिया था और खूँखार हूँणोंके उस देशमें शान्ति, प्रेम और दयाका प्रचार किया था। वहींके तुन-हुआंगके पहाड़ोंमें फिर तो गिरि-मन्दिर बनने लगे थे और देखते ही देखते ४६९ मन्दिर पत्थरकी छाती फाड़कर खड़े कर लिये गये थे। ४६९ मन्दिर, जितने दुनियाके किसी मुल्कमें पत्थर काटकर नहीं बने। और इन पहाड़ी मन्दिरोंकी दीवारोंपर भगवान् बुद्ध और उनके चेलोंकी कहानियाँ हज़ारों चित्रोंमें अजन्ताकी शैलीमें लिख डाली गईं जो आज भी गुमराह संगदिल इन्सानको राह दिखाती हैं।

इन गुहा-चित्रोंकी बुनियाद स्वयं अजन्ता भारतकी पुरानी परम्पराका नमूना है। आजसे कोई सवा दो हज़ार साल पहलेसे ही हमारे देशमें पहाड़ काटकर मन्दिर बनानेकी परिपाटी चल पड़ी थी। और इस प्रकारके सैकड़ों मन्दिर माजा, कार्ले, कन्हेरी, नासिक, बराबर आदिमें बना लिये गये। अजन्ताकी गुफाएँ पहाड़ काटकर बनाई जानेवाली देशकी सबसे प्राचीन गुफाओंमेंसे हैं, जैसे एलोरा और एलिफ़ैंटाकी सबसे पिछले काल की। देशकी गुफाओं या गुफा-मन्दिरोंमें सबसे विख्यात अजन्ताके हैं जिनकी दीवारों और छतोंपर लिखे चित्र दुनियाके लिए नमूने बन गये हैं। चीनके तुन-हुआंग और लंकाके सिगिरियाकी पहाड़ी दीवारोंपर उसीके नमूनेके चित्र नकल कर लिये गये थे। और जब अजन्ताके चित्रोंने विदेशोंको इस प्रकार अपने प्रतापसे निहाल किया तब भला अपने देशके नगर-देहात उनके प्रभावसे कैसे निहाल न होते? बाघ और सित्तनवसलकी गुफाएँ उसी अजन्ताकी ही परम्परामें हैं जिनकी दीवारोंपर जैसे प्रेम और दयाकी एक दुनिया ही सिज गई है।

और जैसे संगसाज़ोंने उन गुफाओंपर रौनक बरसाई है, चितेरे जैसे रंग और रेखामें दर्द और दयाकी कहानी लिखते गये हैं, कलावन्त छेनीसे मूरतें उभारते-कोरते गये हैं, वैसे ही अजन्तापर क़ुदरतका नूर भी

जैसे बरस पड़ा है, प्रकृति भी जैसे वहाँ थिरक उठी है। बम्बईके सूबेमें बम्बई और हैदराबादके बीच, विन्ध्याचलके पूरब-पच्छिम दौड़ती पर्वत-मालोंसे निचौंधे पहाड़ोंका एक सिलसिला उत्तरसे दक्खिन चला गया है जिसे सह्याद्रि कहते हैं। अजन्ताके गुहामन्दिर उसी पहाड़ी जंजीरको सनाथ करते हैं।

अजन्ता गाँवसे थोड़ी ही दूरपर पहाड़ोंके पैरोंमें साँप-सी लोटती बाघुर नदी कमान-सी मुड़ गई है। वहीं पर्वतका सिलसिला एकाएक अर्ध-चन्द्राकार हो गया है, कोई दो-सौ पचास फ़ुट ऊँचा। हरे वनोंके बीच मंचपर मंचकी तरह उठते पहाड़ोंका यह सिलसिला हमारे पुरखोंको भा गया और उन्होंने उसे खोदकर भवनों-महलोंसे भर दिया। सोचिए ज़रा ठोस पहाड़की चट्टानी छाती और कमज़ोर इन्सान पर उन्होंने एका जो किया तो पर्वतका हिया दरकता चला गया और वहाँ एकसे एक बरामदे, हाल और मन्दिर बनते चले गये।

पहले पहाड़ काटकर उसे खोखला कर दिया गया, फिर उसमें सुन्दर भवन बना लिये गये, जहाँ खंभोंपर उभारी मूरतें विहँस उठीं। भीतरकी समूची दीवारें और छतें रगड़ कर चिकनी कर ली गईं और तब उनकी ज़मीन पर चित्रोंकी एक दुनिया ही बसा दी गई, एक आलम उतार दिया गया। पहले पलस्तर लगाकर आचार्योंने उनपर लहराती रेखाओंमें चित्रोंकी काया सिरज दी फिर उनके चेले-कलावन्तोंने उनमें रंग भरकर प्राण फूँक दिये। फिर तो दीवारें उमँग उठीं, पहाड़ पुलकित हो उठे।

और चित्र ऐसे कि न तो किसीने ऐसे चित्र देखे न उनकी कथा सुनी। जभी तो उनकी खोजकी कहानी भी अचरजसे भरी है। निज़ामकी रियासतमें आजसे कोई अस्सी साल पहले अंग्रेज़ सेनाकी एक टुकड़ी अजन्ताके पास ही ठहरी हुई थी। उसीका एक कप्तान कभी शिकारका पीछा करते घोड़े-

पर उधर जा भटका था, और सहसा जो नज़र पड़ी तो सीढ़ियोंके सिल-सिलेके ऊपर मूरतोंसे भरे भवनोंकी कतार देख वह हैरतमें आ गया था। फिर ऊपर चढ़ बरामदों और हालोंकी दीवारोंपर उसने जो नज़ारे देखे तो उसे लगा जैसे किसी जादूके नगरमें चला आया है। फिर धीरे-धीरे जब यूरोपके पारखियोंने उसे देखा, पेरिसकी नुमायशमें जब उन चित्रोंकी नकलें प्रदर्शित हुईं तब यहाँके लोगोंने जाना कि सन्त पाल और सन्त पीतरके गिरजों, पोपकी राजधानी वातिकन और फ़्लोरेन्स, पादुआ और वेनिसकी दीवारोंसे कहीं ऋद्ध अजन्ताकी गुफाओंकी दीवारें हैं जिनपर रस बरसाने वाले चितेरे रफ़ेल और माइकेल ऐंजेलो, लियोनार्दोदा विंची और बोतिचेली, तितियन और वेलास्केज़से कलाके कौशलमें तनिक भी घटकर नहीं।

कितना जीवन बरस पड़ा है इन दीवारोंपर ! जैसे फसाने-अजायब-का भंडार खुल पड़ा हो। कहानीसे कहानी टकराती चली गई है। बन्दरों-की कहानी, हाथियोंकी कहानी, हिरनोंकी कहानी। कहानी क्रूरता और भयकी, दया और त्यागकी। जहाँ बेरहमी है वहीं दयाका भी समुद्र उमड़ पड़ा है, जहाँ पाप है वहीं क्षमाका सोता फूट पड़ा है। राजा और कंगले, विलासी और भिक्षु, नर और नारी, मनुज और पशु सभी कला-कारोंके ब्रुशसे सिरजते चले गये हैं। हैवानकी हैवानीको इन्सानकी इन्सा-नियतसे कैसे जीता जा सकता है, कोई अजन्तामें जाकर देखे। बुद्धका जीवन हज़ार धाराओंमें होकर बहता है। जन्मसे लेकर निर्माण तक उनके जीवनकी प्रधान घटनाएँ कुछ ऐसे लिख दी गई हैं कि आँखें अटक जाती हैं, हटनेका नाम नहीं लेतीं।

यह हाथमें कमल लिये बुद्ध खड़े हैं जैसे छवि छलकी पड़ती है, उभरे नयनोंकी जोत पसरती जा रही है। और यह यशोधरा है, वैसे ही कमलनाल धारण किये त्रिभंगमें खड़ी। और यह दृश्य है महाभिनिष्क्रमणका—यशो-धरा और राहुल निद्रामें खोये, गौतम दृढ़निश्चयपर धड़कते हियाको सँभा-

लते। और यह नन्द है, अपनी पत्नी सुन्दरीका भेजा, द्वारपर आये विना भिक्षाके लौटे भाई बुद्धको लौटाने जो आया था और जिसे भिक्षु बन जाना पड़ा था। बार-बार वह घर भागनेको होता है, बार-बार पकड़-कर संघमें लौटा लिया जाता है, और प्रिया सुन्दरी डकरती रहती है। उधर फिर वह यशोधरा है, बालक राहुलके साथ। बुद्ध आये हैं पर बजाय पतिकी तरह आनेके भिखारीकी तरह आये हैं और भिक्षापात्र देहलीमें बढ़ा देते हैं। यशोधरा क्या दे जब उसका अपना साईं भिखारी बनकर आया है? क्या न दे डाले? पर है ही क्या अब उसके पास उसकी मुकुटमणि सिद्धार्थके खो जानेके बाद? सोना-चाँदी, मणि-मानिक, हीरा-मोती तो उस त्यागी जगत्राताके लिए मिट्टीके मोल नहीं। पर हाँ, है कुछ उसके पास—उसका बचा एक मात्र लाल—उसका राहुल। और उसे ही वह अपने सरबसकी तरह बुद्धको दे डालती है। चित्रकारने जैसे दीवारपर उसका वह रूप अपनी रेखामें पकड़ लिया है—यशोधरा राहुलको जैसे आगेको उठाये हुए हैं और दोनोंके मस्तक, रूप-रंगमें समान, चेष्टाओंमें समान, यकसाँ उठ आये हैं। कहानी वहाँ तो वहीं रह गई है पर बौद्ध ग्रंथोंमें पूरी कर दी गई है, जहाँ यशोधरा अपने रहे-सहे धन बच्चेको भी देकर नारीसुलभ व्यंग्यसे कहती है—ले, वत्स, अपने पितासे तू अब अपना विरसा माँग। और बुद्ध उस चोटसे मलिन नहीं पड़ जाते, मुसकरा कर चेलेसे कहते हैं—मोग्गलान, राहुलको प्रव्रज्या दो! सही, बुद्धके पास संन्यासकी विरासतके सिवा और है ही क्या?

और उधर वह बन्दरोंका चित्र है, कितना सजीव, कितना गतिमान्! उधर सरोवरमें जलविहार करता वह गजराज कमलदण्ड तोड़-तोड़कर हथिनियोंको दे रहा है। वहाँ महलोंमें वह प्यालोंके दौर चल रहे हैं, उधर वह रानी अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर रही है, उसका दम टूटा जा रहा है। खाने-खिलाने, बसने-बसाने, नाचने-गाने, कहने-सुनने, वन-नगर, ऊँच-नीच, क्रूर-कृपा, धनी-गरीबके जितने नजारे हो सकते हैं सब आदमी

अजन्ताकी गुफाओंकी इन दीवारोंपर देख सकता है। ज़ाहिर है कि चाहे इन भवनों या विहारोंमें रहनेवाले गृहत्यागी भिक्षु रहे हों, इन चित्रोंके बनानेवाले चित्रकार ज़रूर ऐसे थे जिन्होंने ज़िन्दगी रवाँ देखी थी, प्रवह-मान, और उसे जैसाका-तैसा लिख दिया था।

बुद्धके इस जन्मकी घटनाएँ तो इन चित्रित कथाओंमें दर्ज हैं ही, उनके पिछले जन्मोंकी कथाओंका भी इनमें चित्रण हुआ है। पिछले जन्मकी ये कथाएँ "जातक" कहलाती हैं। उनकी संख्या ५५५ है और इनका संग्रह "जातक" नामसे ही प्रसिद्ध है जिनका बौद्धोंमें बड़ा मान है। इन्हीं जातक कथाओंमेंसे अनेक अजन्ताके चित्रोंमें विस्तारके साथ लिख दी गई हैं। इन पिछले जन्मोंमें बुद्धने गज, कपि, मृग आदिके रूपमें विविध योनियोंमें जन्म लिया था और संसारके कल्याणके लिए दया और त्यागका आदर्श स्थापित करते वे बलिदान हो गये थे। उन स्थितियोंमें किस प्रकार पशुओं तकने मानवोचित व्यवहार किया था, किस प्रकार औचित्यका पालन किया था यह सब उन चित्रोंमें असाधारण ख़ूबीसे दर्शाया गया है।

और उन्हींको दर्शाते समय चितेरोंने अपनी जानकारीकी गाँठ खोल दी है जिससे नगरों और गाँवों, महलों और झोपड़ियों, समुद्रों और पन-घटोंका संसार अजन्ताके उस पहाड़ी जंगलमें उतर पड़ा है। और वह चित्रकारी इस ख़ूबीसे सम्पन्न हुई है कि देखते ही बनता है। जुलूसके जुलूस, हाथी, घोड़े, दूसरे जानवर जैसे सहसा जीवित होकर अपने-अपने समझाये हुए काम जादूगरके इशारेपर सम्हालने लग जाते हैं।

अजन्तामें प्रायः २९ गुफाएँ हैं जिन्हें २५० फ़ुट सीधा खड़ा पहाड़ हाथसे काटकर बनाया गया है। इनके बनानेमें कितना समय, कितनी मेहनत, कितना धन व्यय हुआ होगा इसका अटकल उन गुफाओंसे लगाया जा सकता है जो पूरी नहीं बन सकीं और जो अधबनी ही छोड़ दी गई थीं।

इन गुफाओंमेंसे २४ तो विहार हैं, ५ चैत्य हैं। विहार एक प्रकारके मठ होते थे जिनमें बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। बीचमें उपदेश या संघकी बैठकके लिए एक हाल होता था और उसके चारों ओर भिक्षुओंके रहने और ध्यान-चिंतनके लिए छोटे-छोटे कमरे होते थे। चैत्य एक प्रकारके मन्दिर थे जिनमें स्तूप या बुद्धकी मूर्ति पूजाके लिए स्थापित होती थी।

बाहरके बरामदोंपर मेहरावनुमा खिड़कियाँ थीं जिनसे प्रकाश भीतर पहुँचता था। इन खिड़कियोंकी बनावट लकड़ीनुमा थी, बरामदे भी अधिकतर मेहराबदार ही हैं। बाहर और भीतर बुद्धकी अनेक मूर्तियाँ हैं जिनकी सुघराई असाधारण हैं पर जो चित्रोंकी अनन्तता और विविधतासे दब जाती हैं। अधिकतर गुफा-मन्दिरोंकी दीवारें छतों तक चित्रोंसे ढकी हैं।

इन गुफाओंका निर्माण ईसासे क़रीब दो सौ साल पहले ही शुरू हो गया था और वे सातवीं सदी तक बनकर तैयार भी हो चुकी थीं। एक-दो गुफाओंमें क़रीब दो हज़ार साल पुराने चित्र भी सुरक्षित हैं। पर अधिकतर चित्र भारतीय इतिहासके सुनहरे युग गुप्तकाल, पाँचवीं सदी और चालुक्य काल (सातवीं सदी) के बीच बने। पहली गुफाओं और पहले चित्रोंके बननेके समय अजन्ता और दकनकी गुफा और चित्रोंके बननेके समय चालुक्योंका प्रभुत्व इतना था कि इनके राजा पुलकेशिन् दूसरेने उत्तर भारतके प्रसिद्ध राजा हर्षवर्द्धनको हराकर नर्मदा तक अपनी सीमा स्थापित की थी। उसी राजाके दरबारमें फ़ारसके बादशाह खुसरू दूसरेका राजदूत आया था। उस दूत-मण्डलका चित्र ईरानी वेशमें अजन्ताकी गुफामें आज भी देखा जा सकता है।

अजन्ता संसारकी चित्रशालाओंमें अपना अद्वितीय स्थान रखता है। इतने प्राचीन कालमें इतने सजीव, इतने गतिमान्, इतने बहुसंख्यक, कथा-प्राणचित्र कहीं नहीं बने। अजन्ताके चित्रोंने देश-विदेश सर्वत्रकी चित्र-कलाको प्रभावित किया। उसका प्रभाव पूर्वके देशोंकी कलापर तो पड़ा

ही, मध्य और पश्चिमी एशिया भी उसके कल्याणकर प्रभावसे वंचित न रह सका ।

× × ×

भारतीय कलामें जो सबसे अनोखी और महत्त्वकी बात है वह यह है कि यहाँके कलावन्तोंने अपनी सामग्रीकी कोई सीमा न बाँधी । धातु, लकड़ी, हड्डी, पत्थर हर चीज़ कलाका आधार बनी और जब उनसे भी उनकी महान् कल्पनाका पोषण न हुआ तब उन्होंने ठोस चट्टानपर अपनी निगाह डाली और पहाड़ोंको काटकर खोखला कर दिया, उनमें अपने मन्दिर बनाये । ऊपर उन मन्दिरोंका कुछ ज़िक्र किया जा चुका है, खासकर अजन्ताके मन्दिरोंका । नीचे एलोराके मन्दिरोंका ज़िक्र करेंगे ।

एलोरा यादवोंकी प्राचीन देवगिरि और मुहम्मद तुग़लकके दौलताबादके पास ही, अजन्तासे क़रीब पचहत्तर मीलके फ़ासलेपर जिला औरंगाबादमें है । अजन्ता और एलोरा दोनों पहले निज़ाम हैदराबादके राज्यमें पड़ते थे, अब वे बम्बईके इलाक़ेमें हैं । अजन्ता जिस तरह अपनी तसवीरोंकी ख़ूबसूरतीमें सानी नहीं रखता वैसे ही एलोरा अपनी मूरतोंकी कारीगरीमें बेजोड़ है । ऐसा नहीं कि एलोराकी दीवारोंपर चित्रकारी न रही हो, पर जैसे अजन्तामें मूरतोंके होते हुए भी प्रधानता जहाँ चित्रोंकी है, वैसे ही चित्रोंके होते हुए भी एलोरामें प्रधानता उसकी मूरतों और बेल-बूटोंकी है । वैसे तो अजन्ताकी गुफाओंका सिलसिला अर्धचन्द्राकार बड़ी ख़ूबसूरतीसे काटा गया है और वह दृश्य एक फ़िसलती नज़रमें एलोरामें नहीं मिलती, पर एलोराकी इमारतोंका महत्त्व अकेले-अकेले असाधारण है । वहाँके मन्दिरकी संख्या तीससे ऊपर है और प्रायः बारादरीके नमूनेके वे दो-दो, तीन-तीनमें बने हुए हैं । अजन्ताकी गुफाएँ एक ही तलकी हैं और एक ही नज़रमें वहाँकी सारी ख़ूबसूरती समेटी जा सकती है । पहाड़की ठोस दीवारको काटना अपने-आपमें कुछ आसान नहीं, फिर उसे काटकर उसमें दो-मंज़िली, तीन-मंज़िली इमारतें ज़िन्दा चट्टानोंमें खड़ी कर देना बड़ी

बिरतेकी बात है, सो एलोराके राजाओं, उनके राजों और कलावन्तोंने सर कर लिया।

अजन्ताके चैत्य और विहार बौद्धोंके हैं, पर एलोरामें बौद्ध, हिन्दू और जैन तीनों धर्मोंके विहार और मन्दिर बने हैं। उनकी संख्या भी तीससे ऊपर है। बौद्ध विहारोंकी संख्या ग्यारह और चैत्यकी एक है। हिन्दू मन्दिर वहाँ सत्रह हैं और शेष जैन। भारतमें धर्मों और सम्प्रदायोंकी विविधता तो ज़रूर रही, पर कलामें उसके कलावन्तोंने हिन्दू, बौद्ध आदिके भेद न किये। एक ही कलाका विकास युगोंके अपने-अपने नये प्रतीकोंके साथ होता गया और बौद्ध, हिन्दू, जैनोंने समान रूपसे उनका व्यवहार किया। अधिकतर उनके देवता भी समान हैं। अन्तर बस इतना है कि वही देवता बौद्ध, हिन्दू या जैन प्रधान देवताके अनुचर बन जाते हैं। यही कारण है कि एलोराके मन्दिरोंकी कला तीनों सम्प्रदायोंके मन्दिरोंमें समान रूपसे बरती गई है। एक ही प्रकारके कटाव अपने भिन्न-भिन्न रूपोंसे प्रयुक्त हुए हैं। मोटे, चिकने, चमकते हुए खम्भोंपर इतने सुन्दर, इतने अनन्त बेल-बूटे काटे गये हैं कि किसीने सच कहा है कि जब भारतीय कलावन्तोंके पास अपने देवी-देवताओंके सजा लेनेके बाद भी अफरात मोती बच रहे, तब उन्होंने अपनी दीवारों और खम्भोंपर उन्हें बिखेर दिये। सही, मोतियोंकी असीम सम्पदा एलोराके मन्दिरोंके खम्भोंपर बिखरी पड़ी है। ऐसे सुन्दर खम्भे भारतके दूसरे गुहा-मन्दिरोंमें देखनेमें नहीं आते।

एलोराके मन्दिर राष्ट्रकूट राजाओंके शासन कालमें बने, छठीसे प्रायः नवीं सदियोंके बीच। वहाँके मन्दिरोंमें प्रधान हिन्दू धर्मके हैं। दशावतार और कैलास नामके मन्दिर तो सचमुच ही संगतराशीके अचरजके नमूने हैं। दशावतार मन्दिरमें विष्णुके दसों अवतारोंका अत्यन्त सुन्दर मूर्तन हुआ है। परन्तु एलोराके मन्दिरोंकी चूड़ामणि तो कैलास है, शिवका मन्दिर। संसारमें सैकड़ों-सैकड़ों मन्दिर चट्टानोंको काटकर बनाये गये हैं, पर कैलासके जोड़का कहीं नहीं बना। तीस लाख हाथ पहाड़की कोखसे पत्थर

काटकर निकाल लिया गया है और दो-मंज़िली इमारत खड़ी कर दी गई हैं। आदमीके पौरुषका इतना बड़ा सबूत और कहीं देखनेको नहीं मिलता। समूचा ताजमहल मय अपने हातेके उसमें रख दिया जा सकता है। शिवके लिंगपर मन्दिरोंमें निरन्तर जलकी बूँदें टपकते रहनेके लिए सूराख़दार घड़ा रक्खा जाता है। सो वैसी कोई मामूली कल्पना कैलासके कलाकारोंको आकृष्ट न कर सकी, उसके इञ्जीनियरोंने दूर बहती एक नदीकी धारा उधरको मोड़ दी और इस प्रकार वे उसे शिवलिंगपर सरका लाये कि जल आज हज़ार सालोंसे उसपर निरन्तर टपकता रहा है। समूचे विशाल हाथी चट्टानोंसे काटकर खड़े कर दिये गये हैं। कालभैरव, काली और शिवके गणोंकी भयानक और बीभत्स एक-से-एक मूर्तियाँ बनी हैं। सामने एक गगनचुम्बी आकाशदीप है। नन्दी और नन्दीके लिए मण्डप है और बाहर एक जालीदार दीवार है। कृष्ण प्रथम राष्ट्रकूटने इस मन्दिरका निर्माण शुरू किया था और पीढ़ियों बाद प्रायः सौ वर्षमें इसका बनना समाप्त हो सका।

दशावतारके पहले जो हिन्दू गुहा-मन्दिर है, उसमें शिवका ताण्डव और रावणके कैलास उठानेके दृश्य बड़ी सुन्दरतासे उभारे और कोरे गये हैं। शिवके नर्तनमें असाधारण वेग है और रावणके रूपमें तो जैसे श्रम और तेज फूट पड़ता है, कैलास पर्वतकी चूलें ढीली हो गई हैं, पार्वती घबड़ाकर शिवके तनसे चिमटती जा रही हैं, पर शिव शान्त मुद्रामें व्यंग्यात्मक भावसे पैरके अंगूठे मात्रसे कैलासको दबाते हैं, और रावणका प्रयास व्यर्थ और अहंकार चूर-चूर हो जाता है।

चार-पाँच गुहा-मन्दिर एलोरामें जैनोंके भी हैं। उनमें भी उसी प्रकार कलाकी बहुरूपी सम्पदाका व्यवहार हुआ है, जैसे बौद्ध और हिन्दू मन्दिरोंमें। उनके तीर्थंकरोंका देव-परिवार भी उसी तन्मयतासे मूर्त हुआ है, उसी अनन्त मात्रामें वहाँकी दीवारों और खम्भोंपर भी बेल-बूटे सजाये गये हैं। उन मन्दिरोंमें दो प्रधान हैं—एक तो कैलासके नमूनेमें ही बना प्रायः

उसीका छोटा रूप और दूसरा इन्द्रसभा। इन्द्रसभामें इन्द्र, इन्द्राणी और उनके गज ऐरावतका वैभव तो बस देखने योग्य है।

अजन्ता और एलोराके गुहा-मन्दिर संसारके इस प्रकारके मन्दिरोंमें असाधारण हैं। जिस प्रकार वे मानव कला और कारीगरीके नमूने हैं उसी प्रकार उसके अनन्त श्रम, विश्वास, आस्था और निष्ठाके भी वे आदर्श हैं।

मूर्तिकला

: १८ :

कलाका धर्मसे सम्बन्ध पुराना है। बहुत पुराना, जितना धर्म पुराना है। सारी महान् कलाओंका ताल्लुक मज़हबसे है। अपने देशकी अजन्ता और एलौराकी कलाएँ, भरहुत और साँचीके स्तूप और रेलिङ्ग, उत्तर और दक्षिण भारतके विशाल मन्दिर, कम्बुज (कम्बोडिया) और जावाके, प्रम्बनम् और बोरोबुदूरके मन्दिर और मूरतें, बीच कालके यूरोपके गिरजाघरोंकी तस्वीरें और मूरतें—सबका सम्बन्ध अपने-अपने काल और देशके धर्मसे रहा है।

इसलिए मूर्तिकलाका भी सम्बन्ध ज़ियादातर मज़हबसे ही रहा है, वैसे मूरतें खेलने और दिलबहलावके लिए भी बनी हैं, कलाकी नज़ाकत और नफ़ासत लेकर भी सिरजी गई हैं पर अधिकतर उन्हें पूजाके लिए ही बनाया गया है। एक ज़माना था जब समूची पुरानी दुनियामें मूरतें पूजी जाती थीं। मिस्रके थीविज़ और मेम्फिस्में, दजला-फ़रातकी घाटीके बाबुल आदि नगरोंमें, अस्सुर और खल्दी राजाओंकी राजधानियोंमें, निनेवेमें, एलाम और अक्कादमें, शूसा और एकबतानामें, चीनके नगरोंमें, सर्वत्र मूरतोंका बोलबाला था, मूरतें पूजी जाती थीं। देवताको निर्गुण और निराकार मानकर उसको पूजना इन्साननें कभी नहीं सीखा था और जो उस पुराने ज़मानेमें ऐसा करनेके इक्के-दुक्के प्रयत्न उसने किये भी तो वे बेकार हो गये। इसराइलके अमूर्त निराकार यहोवासम्बन्धी आवाज़ बियाबाँमें गूँजकर चुप हो गई, मिस्रके इख़नातूनके एकेश्वरवादका सिद्धान्त भी दुश्मनोंकी बाढ़में दम घुट कर मर गया। चारों ओर इन्सानी देवताओं-का दबदबा था जो इन्सानकी तरह राग और बैर करते थे, प्यार और

दुश्मनी और प्रलयकी धमकियोंसे आदमीको डराकर उसपर अपनी सत्ता कायम रखते थे।

भारतमें भी मूरतोंको गढ़ने या ढालनेका तांता कभी न टूटा। सिन्ध-की घाटीके मोहनजोदड़ो और पंजाबके हड़प्पाकी शहरी सभ्यताके ज़मानेसे आजतक लगातार इस देशमें मूरतें बनाई और पूजी जाती रही हैं। पिछले ५ हज़ारसालोंका इतिहास इसका गवाह है कि बीच-बीचमें यद्यपि हमलोंकी चोटसे पत्थर और धातुकी मूरतें भी बिलबिला उठी हैं, उनका बनाना और पूजा जाना कभी रुका नहीं है।

सिन्धकी घाटीकी मूरतोंकी कहानी बड़ी पुरानी है, ईसासे २–३ हज़ार साल पहलेकी, आजसे कोई ४–५ हज़ार साल पहलेकी। साँचेमें गीले चूने और मिट्टीको डालकर ढालनेकी कला तबके आदमीने सीख ली थी। खानोंको खोदकर धातुओंको निकालने और उन्हें साफ़ कर डालनेका हुनर भी जाना जा चुका था। ख़ूबसूरत अङ्गोंवाली शक्लोंकी उभरी हुई मुहरें जो सिन्धके उन पुराने नगरोंसे मिली हैं वे उस ज़मानेकी कलाकी कहानी कहती हैं। शेर और हाथी, गेंडे और हिरन, भेड़ और बकरी, आदमी और पेड़-पौधोंकी तस्वीरें इन मुहरोंपर जो उभारकर बनी हैं वे आज भी अपनी ख़ूबसूरती और बनावटमें एकता और बेजोड़ हैं। इनमें जो साँड़ वाली मुहर है उसमें शिराओंका उभार और ताक़तका अटाव कुछ ऐसा है कि देखने वाले उसकी सजीवतासे दङ्ग रह जाते हैं। वैसी कोई चीज़ कलाके मैदानमें मिस्र और ईराककी समकालीन सभ्यतामें नहीं बनी। तभीकी नर्तकीकी एक काँसेकी मूरत कमरपर हाथ रखे नाचकी मुद्रामें जो खड़ी है वह कलाकी सादगीमें लासानी है। सिर और हाथ-पैरोंके बग़ैर पत्थरकी एक धड़ कुछ ऐसी दम-ख़म लिये हुए है कि लगता है नाचके वेगमें मूरत-का रोम-रोम थिरक रहा है।

ईसासे क़रीब डेढ़-दो हज़ार साल पहले सिन्धकी सभ्यताका अन्त हो

गया, और गो ऋग्वेदके आर्योंकी एक नई सभ्यताका साया देशको मिला, कलाका विकास क़रीब-क़रीब रुक ही गया। अगले हज़ार साल तक देशमें मूरतें शायद बनी ही नहीं। सिकन्दरके हमलेके पहलेकी कुछ हाथकी बनी मिट्टीकी मूरतें ज़रूर मिली हैं, पर उनके पहले और सिन्धकी सभ्यताके पीछे कलाके इतिहासमें एक बड़ी चौड़ी खाई है जिसमें मूरतोंका बिलकुल अभाव है। सिकन्दरके हमलेके बाद, सम्राट् अशोकके पहले और पीछे, मिट्टीके ठीकरे साँचेमें ढाल पका कर बनाये जाने लगे थे जिनपर उभरी हुई शक्लें सुन्दर लेबाससे सजी होती थीं और ज़ियादातर पूजनेके काममें आती थीं। उस ज़मानेको मौर्यकाल कहते थे, क्योंकि उन दिनों उत्तर भारतपर मौर्य राजाओंका राज था, तभी चन्द्रगुप्त और अशोकने राज किया। अशोकने एक ही पत्थरके जो अनेक विशाल खम्भे बनवा कर उन-पर अपनी प्रजाके पढ़नेके लिए उपदेश खुदवाये। वे खम्भे ईरानी दाराओंके खम्भोंकी नकलमें बने थे, पर बेशक थे वे उनसे भी ख़ूबसूरत। उनके ऊपरी सिरेपर हाथी साँड़ आदि जानवरोंकी मूरतें बनी थीं। इसी प्रकारकी सारनाथकी एक लाटपर अशोकने चार, पीठ-से-पीठ लगे, सिंह बनवाये थे, जो आज भी वहाँके अजायबघरमें रखे हैं। उन्हींकी तस्बीर आज हमारी भारत सरकारकी मुहर है। उन शेरोंकी शकल इतनी सजीव है, उनकी शिराओंका उभार इतना सही है कि देखनेवाला दाँतों तले उँगली दबा लेता है। अशोकके इन खम्भोंपर जो एक तरहकी चमकदार पालिश है वह ईरानी कलावन्तोंकी देन मानी जाती है। वैसी कोई चीज़ न तो अशोकके ज़मानेसे पहले भारतमें बनी और न पीछे और वह पालिश सदाके लिए ग़ायब हो गई। अशोकसे कुछ ही पहले पच्छिमी पंजाब और सिन्धपर ईरानी दाराओंकी हुकूमत सदियों रही थी। अशोककी इन चमकती लाटोंके पहलेकी बस दो-चार पत्थरकी बनी बेहद मोंडी मूरतें मिली हैं। मौर्योंका ज़माना ईसासे क़रीब १८५ साल पहले खत्म हो गया।

नया ज़माना शुंग राजाओंका था जो ब्राह्मण थे और बौद्ध मौर्योंके

खिलाफ़ बगावतकर देशके राजा हुए थे। कलामें तब एक नई शैली और उससे भी बढ़कर, एक नये भरे-पुरे युगका आरम्भ हुआ। मिट्टी और पत्थरके ऊपर शक्लें बड़ी ख़ूबसूरतीसे उभारी जाने लगी, और मिट्टीके ठीकरोंपरकी ख़ाली ज़मीन फूलोंसे भर दी जाने लगीं। उस ज़मानेकी सबसे मारकेकी बात यह है कि मूरतोंका एक बड़े पैमानेपर बनना शुरू हुआ जो अगली सदियोंमें लगातार चलता रहा। शुंगकालकी मूरतोंमें आदमीकी शक्लें, मौर्यकालकी ही शक्लोंकी तरह, सामनेसे कुछ चौड़ी और चिपटी होती थीं पर उनके पहनावेमें फ़र्क़ आ गया था। पगड़ीमें सामने दो-दो गाँठें होने लगी थीं और धोतीका तिकोना पैरोंके बीच ज़मीन चूमता होता था। कानोंमें अक्सर गोल बालियाँ होती थीं और औरतें सिरपर चिपटे गहने, कलाइयोंपर कुहनी तक चूड़ियाँ और पैरोंमें कड़े पहनती थीं। धोतियाँ अक्सर घुटनों तक ही पहनी जाती थीं जिनमें पीछे लांग कसी होती थी। कंधोंसे लोग चादर, जिसे उत्तरीय कहते थे, लटका लेते थे। साँची और भरहुतके स्तूप तो शायद अशोकके ज़मानेके हैं पर उसके चारों ओर दौड़ती रेलिंगें इसी शुंगकालकी हैं। ग़ज़बकी मूरतोंकी दौलत बिखर पड़ी है उन रेलिंगोंपर। अशोककी डाल झुकाती यक्षियाँ, सुशील खड़े यक्ष, बेगवान घोड़े, गुंजलक भरते हाथी, कुण्डली भरते घड़ियाल और पंख मारते सुपर्ण सचेत और सजीव पत्थरमें कलावन्तोंने अचरजके हुनरसे उभारे हैं। साँचीकी रेलिंगोंके ऊपर कटाव-खिचावका काम इतना सुन्दर है जिसका बयान नहीं किया जा सकता। जुलूसके जुलूस पत्थरमें छेनीसे काटकर उभार दिये गये हैं और उनमें बनी शक्लें, लगता है, जैसे अब बोलीं कि तब बोलीं। खासकर रेलिंगोंके बीच-बीच चारों ओर जो तोरण-द्वार बने हैं उनके एकके ऊपर एक चढ़े तोरण कटावके काम और मूरतोंकी ज़िन्दादिली और ताज़गीमें लासानी है। कठोर पत्थरमें काम ऐसा लगता है जैसे हाथी-दाँतमें हुआ है। और मज़ेकी बात यह है कि साँचीके पासकी ही प्राचीन-कालकी विदिशाके हाथीदाँतके कारीगरोंने शायद इन रेलिंगोंको बनाया था।

वह विदिशा (आजका भिलसा) पहले मगधके नये सम्राट् उन शुंगोंकी ज़मीदारीका केन्द्र थी जो मौर्योंसे मगध छीन तब उसे भोग रहे थे और उनका राजा पुष्यमित्र पाटलिपुत्रकी गद्दीपर था। यह सही है कि महर्षि पतंजलिके साथ-साथ पुष्यमित्र भी मौर्यो और बौद्धोंके ब्राह्मण-विद्रोह-का नेता था और उसने पटनेसे जलंधर तकके बौद्ध विहारों और मठोंको जलाकर एक-एक भिक्षुके सिरके बदले सोनेके सौ-सौ दीनार बाँटे थे, और इस प्रकार भारतके इतिहासने पहली बार मज़हबी कट्टरता और अस-हिष्णुताका परिचय दिया था, पर राजकी बागडोरें सँभाल लेने और उसे शत्रुओंसे निरापद कर लेनेके बाद वह भी सदाके हिन्दुस्तांनी क़ायदेके मुताबिक़ धर्मोंकी तरफ़दारीके ऊपर उठ गया था। बौद्ध-धर्मकी सबसे अधिक क्रियाशीलताका जुग शुंगोंके राजमें ही आया जिससे ज़ाहिर है कि साँची और भरहुतकी कलाके फलने-फूलनेमें शुंग राजाओंने न केवल अपनी संरक्षा दी बल्कि सहायता भी की।

ईसासे पहले दूसरी सदीमें ही आमू दरियाकी घाटी बलख़ या बाख़्त्री-से हिन्दुस्तानपर ग्रीकोंके हमले शुरू हो गये थे और देखते ही देखते उन्होंने काबुल सिंध और पंजाबपर क़ब्ज़ा कर लिया था। उनके राजा देमेत्रियस्ने तो पाटलिपुत्र तक धावे मारे थे और नतीजा यह हुआ था कि पंजाब और सिंधमें ग्रीकोंके अनेक नगर और नगरोंमें उनके अनेक मुहल्ले बस गये थे, जहाँ उनकी अपनी कलाकी बेलें लगीं, अपने नाटक खेलनेके लिए रंगमंच बने, अपने ज्योतिषकी गणनाएँ होने लगीं। इनमें सबसे महत्त्वकी बात उनकी कला-सम्बन्धी थी। कोई तीन ही सौ साल पहले एथेंस और दूसरे ग्रीक नगरोंकी मूर्तिकला चोटीपर रही थी और उसकी एक ख़ासी कलम बाख़्त्रीमें एशियाई ग्रीकोंने लगाई थी। उन्होंने बाख़्त्री और ग्रीससे स्वदेशी कलाकार बुला भेजे और उनसे पंजाबकी अपनी नई बस्तियोंमें कलाके क्षेत्रमें एक नया प्रयोग शुरू किया। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। ग्रीक भारतमें अधिकतर हिन्दू या बौद्ध धर्म अंगीकारकर देशके समाजमें

घुलते-मिले जा रहे थे, पर कला-सम्बन्धी उनकी रुचि क़ुदरतन यूनानी थी और उन्होंने यूनानी शैलीका प्रयोग कलाके मैदानमें किया। कोरने और उभारनेके विषय तो भारतीय और बौद्ध ही बने रहे पर उनको कोरा या उभारा ग्रीक कलावन्तोंने। यह ग्रीक शैली या टेकनीकका प्रयोग भारतीय धर्मकी ज़मीनपर था। प्रयोग सफल हुआ और एक नई शैली मूर्तिकलामें निकल आयी, जो गान्धार शैली कहलाई। गान्धार शैली इसलिए कि जिस इलाक़ेमें उस शैलीका विकास हुआ उसका नाम गन्धार था और उसकी राजधानी तक्षशिला थी। उसके दूसरे नाम हिन्दू-ग्रीक और ग्रीक-रोमन पड़े। हज़ारों-हज़ारों मूरतें गांधार शैलीमें बनकर मथुरासे बामियान तक इस देशके विदेशी आस्थावानोंकी पूजा पाने लगीं। बुद्धके जीवनके अनेकों दृश्य पत्थरकी पटियोंपर उभार दिये गये। उन उभरे दृश्योंकी शक्लोंकी दमख़म, रूपरेखा और वेशभूषा योरोपीय थी। उसी गान्धार कलाने पहले-पहल बुद्धकी मूरत कोरी जिसकी हज़ारों नकलें देशके हर भागमें बनकर तैयार हो गयीं।

गान्धार शैलीकी मूरतोंकी सबसे बड़ी राशि ईसवी सन्‌की पहली दूसरी सदियोंमें कुषाण राजाओंकी हुकूमतमें बनी। कुषाण राजाओंकी राजधानी तो थी पेशावर, पर पूरबमें उनके दो बड़े केन्द्र, मथुरा और मिर्जापुर, थे। मथुरामें शक और कुषाण राजाओंकी आदमक़द मूरतें देवकुल गाँवसे मिली हैं जिससे ज़ाहिर है कि वहाँ इन राजाओंकी एक मूर्तिशाला क़ायम थी। इसीसे बादमें उस गाँवने अपना नाम भी पाया। इन्हीं मूरतोंमें एक कुषाण राजाओंमें सबसे महान् कनिष्ककी है, सिरकटी मूरत, अचकन, शलवार और घुटनोंतक पहुँचनेवाले जूतोंके लोबससे लैस। कुषाणोंके ज़माने-की भारतकी मूर्तिकला, ख़ासकर पत्थर और मिट्टीकी मूरतें, रूप और संख्यामें बड़े महत्त्वकी है। बुद्ध, बोधिसत्त्वों और बौद्ध धर्म तथा पुराणके अनेकानेक छोटे-बड़े देवताओंकी अनन्य मूर्तियाँ, मथुरा, सारनाथ और अमरावतीमें पत्थरमें कोरी और धातुमें ढाली गईं। जैसे ईसाइयोंमें प्रच-

१३

लित है कि ईसाने कहा था कि संसारके सारे आदमियोंका पाप मैं अपने सिर लेता हूँ वैसे ही और उनसे भी पहले बोधिसत्त्वकी कल्पना करते समय कहा गया कि जब तक एक जीव भी विना निर्वाणके रह जायगा तब तक बोधिसत्त्व निर्वाण न लेंगे। इस प्रकारके विचारोंका बौद्ध धर्मके जिस सम्प्रदायने प्रचार किया उसको महायान कहते हैं। वह बुद्ध या अर्हतोंकी दुनियासे भिन्न था जिसकी कोशिश बस अपने ही भवसागर पार करने तक सीमित थी। इसीसे उसे हीनयान या तुच्छ नाव कहने लगे थे। संसार-के सभी प्राणियोंको चढ़ाकर भवसागर पार करानेवाले बौद्ध सम्प्रदायका नाम इसीसे महायान पड़ा। बुद्धको निजी देवता माना गया और पहली बार उनकी मूरत बनाई गई। बुद्धने स्वयं अपनी मूरत बनानेका निषेध कर दिया था जिससे उनकी उपस्थिति प्रकट करनेके लिए कलामें उनके छत्र या खड़ाऊँ या हाथ-पैरों या बोधि-वृक्षकी शकलें बना या उभार ली जाती थीं। अब नये सम्प्रदायने जो भगवान् बुद्धको अपना निजी देवता मान लिया तो पूजाके लिए उनकी मूरतोंका बनना भी स्वाभाविक था और हज़ारों मूर्तियाँ खड़ी, बैठी या उपदेश करती बनकर तैयार हो गयीं।

पर महायानका असल देवता तो दयाका सागर और दुनियाबी जीवों-का हमदर्द बोधिसत्त्व था। बोधिसत्त्वकी कल्पना बिलकुल नयी थी और वह उस पुरुषका नाम था जिसका, समय आनेपर, बुद्ध हो जाना लाज़मी था। बोधिसत्त्व बुद्धकी बुद्ध होनेसे पहलेकी स्थितिका नाम था। सो नये सम्प्रदायमें बोधिसत्त्वकी मूरतोंकी बाढ़-सी आ गयी और उनका केन्द्र भी अधिकतर मथुरा बनी। बोधिसत्त्व और बुद्धकी मूरतोंमें ज़ियादातर लेबास का फ़र्क़ है। बुद्ध संन्यासी थे और बोधिसत्त्व घरबारी होते थे। इसीसे बुद्ध भिक्षुओं या संन्यासियोंका लेबास त्रिचीवर पहनते थे और बोधिसत्त्व गृहस्थ और अधिकतर राजकुमारके वेशमें रहते थे, पगड़ी और गहने पहनते थे। बुद्ध सिर मुड़ाये होते थे, तीन कपड़े—नीचे अन्तर्वासक (तहमत), ऊपर उत्तरासंग, और सबसे ऊपर संघाटी—पहनते थे। यही लेबास कुषाण

कालके बुद्ध और बोधिसत्त्वकी मूरतोंपर मिलता है। कुषाणोंके युगमें भारतकी मूर्तिकलामें ये दो नयी बातें हुईं—एक तो ग्रीक या यूरोपीय टेकनीकका भारतीय कलामें उपयोग और दूसरी बुद्ध और बोधिसत्त्वकी मूरतोंका निर्माण।

पहले लिखा जा चुका है कि कुषाणकालकी कलाका मरकज़ मथुरा थी। वहाँ बौद्धों और जैनों दोनोंके स्तूप बने जिन्हें रेलिंगोंसे घेर दिया गया। इन रेलिंगोंपर भी साँची और भरहुतके स्तूपोंकी रेलिंगोंकी ही तरह सैकड़ों-सैकड़ों छोटी-बड़ी ख़ूबसूरत मूरतें उभार दी गईं। इनमें सबसे ख़ूबसूरत मूरतें यक्षियोंकी हैं जो रेलिंगोंके खम्भोंपर अनेक शक्लोंमें उभारी गई हैं। इनमें कोई बीन बजा रही है, कोई नाच रही है, कोई झरने तले नहा रही है, कोई नहाकर बालोंसे जल निचोड़ रही है, जिसकी बूँदोंको मोतियोंके धोखेसे निगलनेके लिए हंस दौड़ पड़ते हैं, कोई तोता और पिंजड़ा लिये हुए है, कोई चिराग़, और कोई अशोकको ठोकर मारकर या बकुलपर शराबका कुल्ला फेंककर उनमें फूल लानेकी कोशिश कर रही है। ग़रज़ कि असलियत और कल्पनामें जिन्दगीकी जितनी मूरतें हो सकती हैं उन सबका निर्वाह इन मूरतोंमें हुआ है। अधिकतर ये नंगी हैं और मर्दकी पीठपर खड़ी हैं। मर्द बौनेकी शक्लमें ज़मीनपर औंधा पड़ा दिखाया गया है, जिसकी आँखें निकली पड़ती हैं, ज़ुबान लटकी जा रही है, फिर भी चेहरेपर एक अजीब ख़ुशीकी रौनक़ बरस रही है। ज़ाहिर है कि कलावन्तोंको यह दिखाना मंज़ूर है कि मर्द किस क़दर अपनी वासनाओंके केन्द्र औरत के मुक़ाबले बौना है और जो वह उसके भारसे कुचला जा रहा है वह अपनी हालतको नियामत ही मानता है और उससे फ़ख्र हासिल करता है।

कुषाणकालकी कलामें जैन मूरतोंका आगमन भी एक नयी बात है। जैन तीर्थंकरोंकी मूरतें भी बुद्धकी मूरतोंकी तरह होती हैं, फ़र्क बस इतना होता है कि जहाँ बुद्ध कपड़े पहनते हैं वहाँ जैन नंगे रहते हैं। जैसे मथुरा

उत्तर भारतमें कुषाण कलाका केन्द्र थी वैसे ही दकनमें कृष्णाकी घाटीमें अमरावती भी विशेष महत्त्वकी थी। वहाँ भी उन्हीं दिनों पुराने स्तूपोंके चारों ओर रेलिंगें दौड़ाई गईं और स्तूपके तनपर संगमरमरकी पट्टियाँ जड़ दी गयीं। इन पट्टियोंपर बड़ी ख़ूबसूरत आदमी और जानवरोंकी मूरतें खींची और उभारी गई हैं। आदमियोंके पतले ऊँचे शरीर तो बस देखने ही लायक़ हैं।

कुषाणकालकी पत्थरकी मूरतोंकी पहचान कई बातोंके ज़रिये की जाती है। एक तो शक़्लका आकार बजाय चिपटेके कुछ अण्डाकार हो आता है, जो सर्वथा अण्डाकार नहीं। चेहरेमें गोलाई अधिक होती है, चिपटापन कम। बुद्धके पैरोंके तलवे सर्वथा मांसल होते हुए भी लकड़ीकी शक़्लके दीखते हैं। नारीका केश-विन्यास बदल जाता है। सामने ललाटके ऊपर बालोंकी सजावटमें एक तरहकी गोलावट होती है जिसमें बीचसे माँग पीछेकी ओर जाती है, और पीछे अधिकतर चोटियों या बेणियोंमें बाल गूँथ लिये जाते हैं। गहनोंकी सजावट पहलेके युगकी अपेक्षा कुछ कम हो जाती है। मर्दोंकी पगड़ीसे शुंगकालकी दोनों गाँठें ग़ायब हो जाती हैं और उनकी जगह अकेले पत्तेकी शक्लकी सजावट ले लेती है। धोती प्राय: आजकी तरह ही एक पैरपर चुन्नटदार दूसरेपर कसी हुई पहनी जाती है।

कुषाणकाल और गुप्तकालके बीच देशमें राजनीतिक क्रान्ति होती है जो गुप्तोंके युग तक क्रियाशील रहती है। पदमपवाँया और कन्तितके नाग राजा विदेशियोंसे विद्रोह करते हैं और कुषाणोंसे भारत-भूमि छीन लेनेकी कोशिश करते हैं। कुषाणोंके पूरबी इलाक़ोंके मरकज़ मथुरा तक उनके हमले होते हैं और कुषाण राजाओंको पच्छिमी पंजाब और काबुलकी ओर सरक जाना पड़ता है। नाग लोग अपनी पीठपर शिवकी मूरत धारण करते हैं जिससे वे 'भारशिव' कहलाते हैं और जब-जब वे अभी तक विदेशी समझे जानेवाले कुषाणोंकी भूमि छीनते हैं तब-तब अश्वमेध करते

हैं, और जब काशीमें ऐसे अश्वमेधोंके नहानकी संख्या दस हो जाती है तब काशीके उस घाटका महातम स्वर्गकी तरह बढ़ जाता है जिसे दशाश्वमेध कहते हैं। ईसाकी तीसरी सदीके अन्तमें भारतके इतिहासमें गुप्त राजा प्रबल होते हैं और समुद्रगुप्त उत्तरसे दक्खिन तककी ज़मीन रौंद डालता है। तब उसका बेटा चन्द्रगुप्त शकोंको मालवा और गुजरातसे निकालकर उस राष्ट्रीय विद्रोहका अन्त करता है जिसका आरम्भ भारशिव नागोंने किया था। देशकी हर तरहसे तरक्की होती है और भारतीय इतिहासका सुनहरा युग हर मैदानमें चमक उठता है। अजन्ता और बाघकी गुफाओंमें दीवारें नयनाभिराम चित्रोंसे भर दी जाती हैं जिनकी नक़ल दूर-दूरके बाहरके देश करते हैं।

मूरतें एक नई दमखमके साथ केरी और सिरजी जाती हैं। अब तक रूपकी सुन्दरता कल्पनाके आदर्शसे सँवारी जाती थी अब इंसानकी हुबहू शख़्सियत मूरतमें कोरने और ढालनेकी कोशिश होती है। चिपटा चेहरा गोलाकारसे अण्डाकार हो आता है, सही आदमी जैसा। और असलकी नक़ल की जाती है। रूप कल्पनासे नहीं वास्तविकके नवसृजनसे निखर उठता है। स्वयं मूर्तिकलामें राष्ट्रीय क्रान्ति होती है और गान्धार शैलीके बुद्धकी संघाटी या ऊपरी पहनावेकी चुन्नटें धीरे-धीरे ग़ायब हो जाती हैं, जिस्मानी लकीरें लेबाससे बाहर फूट निकलती हैं, लेबासकी धारियाँ जिस्ममें खो जाती हैं। बाल घुँघराले रखनेकी प्रथा चल पड़ती है और जिनके बाल घुँघराले नहीं होते वे बने हुए घूँघरदार केश सिरपर धारण करते हैं। कन्धोंपर लटकनेवाले इस प्रकारके घूँघरदार बाल गुप्तकालकी मूरतोंकी ख़ास पहचान है। तबकी हज़ार-हज़ार मिट्टीकी मूरतें इन्हीं असल या बनावटी घुँघराले बालोंसे सजी उत्तर भारतकी खुदाइयोंमें मिली हैं, जिनसे हमारे अजायबघर भरे पड़े हैं। पीछेसे चिपटी इन मिट्टीकी मूरतोंको दीवारोंपर आजके चित्रोंकी तरह टाँग दिया करते थे। रूपकी ख़ूबसूरतीके साथ गुप्तकालके कलावन्तोंने अपनी सुरुचिको भी खूब ही निखारा था।

गहनोंका इस्तेमाल गुप्तयुगके पहले भी बहुत रहा था और पीछे तो उनसे जिस्म ढक ही जाने लगा, पर गुप्तकालके नागरिकोंने आभूषणको रूपका सही अलंकार बनाया, स्वयं अलंकारकी स्तुति न की। सुरुचिसे चुने हुए कमसे कम गहने पहने जाने लगे और इन्हींसे तबकी मूरतें सज गईं।

मिट्टी और धातुकी ढली मूरतोंके अलावा पत्थरकी मूरतोंने तो कलाके मैदानमें जहान जीत लिया। संगतराशकी छेनीमें जैसे कला जादू बनकर बैठी और मूरतोंके अचरजके नमूने कलावन्त सिरजते चले गये। मथुरा और सारनाथ तबकी कलाके केन्द्र थे जहाँ एकसे एक सुन्दर मूरतोंका सृजन हुआ। संसारके डरे जीवोंको निर्भय करती अभय मुद्रामें खड़ी मथुरा की प्रसिद्ध बुद्धकी मूर्ति संसारके पारखियोंके लिए आज भी दर्शनीय अचरज है। ऐसे ही सारनाथकी बुद्धकी ध्यान मुद्रामें बैठी मूरत रुचि और दमख़ममें बेजोड़ है। गुप्तकालकी ऐसी सुन्दर मूर्तियोंको गिन सकना कठिन है। हर युगमें मूर्तियाँ बनीं और उनकी भरी संख्यामें थोड़े-बहुत ख़ूबसूरत नमूने मिल ही जाते हैं, पर अनन्त संख्यामें ख़ूबसूरत मूरतोंकी इतनी बहुतायत कभी नहीं देखी गयी जितनी गुप्तकालमें। धातुकी ढली मूरतोंकी भी एक बड़ी अदद गया ज़िलेसे मिली थी जिनकी सुघराई असाधारण है। धातु ढालनेकी कलामें तो भारत तब इतना कुशल हो गया था कि देहलीके पास मेहरौलीकी कुतुबकी लाटकी छायामें खड़ी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यकी लोहेकी लाट एक हैरतकी चीज़ बन गई है। उसमें कुछ ऐसा लोहा लगा है कि पन्द्रह सदियोंसे धूप और पानीमें खड़ी उस लाटमें कहीं जंग न लगी।

भारतकी मूर्तिकलाका अगला युग मध्ययुग कहलाता है। इसका विस्तार ६०० ई० से १२०० ई० तक है। कलाके इतिहासकारोंने इस युगके भी दो हिस्से कर लिये हैं—(१) पूर्व मध्यकाल और (२) उत्तर मध्यकाल। अफ़सोस कि इन युगोंसे सुरुचि और संयमकी ख़ूबसूरती उठ गई। इसमें शक नहीं कि इन युगोंमें भी अनेक बार कलाकारोंने जिस्मकी

ख़ूबसूरती पत्थर या धातुमें ढालकर रख दी पर गुप्तकालकी मूरतोंकी सफ़ाई अब देखनेको नहीं मिलती। गहनोंकी भरमार हो आती है और देवताओंके शरीर उनसे ढक जाते हैं। अनेक बार शक्लोंका तीखापन संगमरमर और धातुके अनुकरणमें सम्पन्न होता है, और लखनऊके संग्रहालयमें रखी सिंहनाद अवलोकितेश्वरको तरहकी अचरजकी मूरतें जब तब कलाकारकी छेनीसे निकल पड़ती हैं, पर ऐसी मूरतोंकी संख्या बस इनीगिनी ही है। कलाके क्षेत्रमें हिन्दू देवी-देवताओंकी बाढ़-सी आ जाती है और अवतारोंकी मूरतें बार-बार कोरी जाती हैं। वैष्णव और शैव सम्प्रदायकी मूरतोंसे मन्दिर भर जाते हैं।

९ वीं सदीके बाद विशेष विस्तार मन्दिरोंके बाहर-भीतर कटी मूरतोंका होता है। वैसे तो बड़े पुराने ज़मानेसे, अजन्ता, एलोरा, कार्ले, कन्हेरी, भाजा आदिकी गुफाओंमें ख़ूबसूरत मूरतें कटती आ रही थीं, और गुप्तकालमें तो उदयगिरिकी गुफामें पृथ्वीका उद्धार करते वराहकी मूरत चट्टानमें काटकर भाव और रूप दोनोंकी संगतराशने चोटी छू ली, और ७वीं सदीके मामल्लपुरम्के मन्दिरकी चट्टानी दीवारपर कवि भारविके काव्य "किरातार्जुनीय"के दृश्य काटकर कलावन्तोंने कलाके क्षेत्रमें एक नयी दुनियाकी सृष्टि की। पर मध्यकालके पिछले खेवेकी मूरतें ज़ियादातर ईंट-चूनेके मन्दिरोंपर बनी हैं जो अपनी भंगिमामें अनेक बार लासानी हो उठती हैं। भुवनेश्वर और कनारक, खजुराहो और दिलवाड़ाके मन्दिरोंकी बाहरी काया अनेक अभिराम और सजीव मूरतोंसे सजी है जिनका कलाके इतिहासमें अपना स्थान है। सुर-सुन्दरियों और काल्पनिक व्यालोंकी भंगिमाओंसे मन्दिरोंके कलेवर सज उठते हैं और जिस्मानी दमख़ममें एक नया राज़ खुल पड़ता है। भुवनेश्वरके एक मन्दिरपर प्रेमपत्र लिखती नारीके शरीरका भंग उतना ही गज़बका आकर्षक है जितना उसके चेहरेकी बनावटमें जगी सकुचाती नारीकी मानवीय सुन्दरता। और कनारककी भेदभरी असामाजिक मूरतोंकी कहानी तो निराली है, उतनी ही निराली

जितनी उनकी जिस्मानी शख्सियत निराली है, उनकी भाव भंगिमा और सजीवता निराली है।

दक्खिनके मन्दिरोंपर मूरतोंकी यह दुनिया और भी घनी सिरजी गई। पर बेशक उनका महत्त्व तनकी एकाकी सुघराई या भावोंकी एकांतिक गरिमामें नहीं, उनकी अनेकता और बहुलतामें है। पर वही बात निःसन्देह दक्खिनकी धातुकी मूरतोंके सम्बन्धमें सही नहीं है। धातुकी मूरतें सचमुच वहाँ कुछ ऐसी ढाली गईं जिनकी सहजता और अनुपात आजके कलाकारको हैरतमें डाल देते हैं। इन धातुकी मूरतोंमें सबसे प्रसिद्ध और अचरजकी मूरत नटराजकी है जो संसारकी कलाके इतिहासमें अमर हो गई है। नटराज शिव बड़े वेगसे कालपुरुषके ऊपर नाच रहे हैं, जिससे शून्य वातावरण जैसे घना होता गया है, जैसे ऊर्जा (एनर्जी) से द्रव्यकी घनता बढ़ती जा रही है। प्रतीकके रूपमें यह मूरत निःसन्देह बेजोड़ है—सबको मारनेवाला काल ज़मीनपर औंधा पड़ा है और उसके ऊपर चढ़ी ज़िन्दगी जगके शिव या कल्याणके रूपमें नाच उठी है।

भारतकी सिलसिलेवार मूर्तिकलाकी कहानी अब बारहवीं सदीके बाद प्रायः ख़त्म हो जाती है। उसके बाद भी मन्दिरोंका निर्माण होता है, उन मन्दिरोंमें मूरतें भी बनाकर पधराई जाती हैं, १२ वीं-१४ वीं सदीसे १८ वीं सदी तक लगातार, पर उन मूरतोंमें अब न तो मौर्यकालकी शालीनता है न कुषाणकालकी ज़िन्दगी, न गुप्तकालकी सुरुचि, न मध्यकालकी दमख़म।

यूरोपीय असरसे २० वीं सदीमें भारतकी चित्रकला प्रभावित हुई। मूर्तिकला भी उस असरसे वंचित न रह सकी। नई शैलियोंका प्रभुत्व जैसे चित्रकलापर छाया वैसे ही मूर्तिकलाकी ज़मीनमें भी पच्छिमकी अनेक कलमें लगीं और आज भारतीय मूर्तिकलाकी गो अपनी परम्परा उतनी न रही, उसके नये प्रयोग बेशक दिलचस्प हैं।

विदेशोंमें भारतीय संस्कृतिका अध्ययन : १९ :

कुछ विश्वविद्यालयों और सरकारोंके निमंत्रणसे इधर दस महीनोंसे विदेशोंमें घूमता रहा हूँ। इस सिलसिलेमें मुझे अनेक अमरीकी और यूरोपीय देशोंका भ्रमण करना पड़ा है। उन्नीस सितम्बर सन् पचास और दस जून सन् इक्यावनके बीच मैंने अमरीकाके संयुक्त राष्ट्र और कैनेडा, यूरोपके इंग्लैंड, नारवे, स्विडन, डेनमार्क, हालैंड, बेल्जियम, फ्रांस, स्विट्ज़रलैंड, इटली, यूगोस्लाविया और ग्रीस तथा अफ्रीकाके मिस्र आदि देशोंका भ्रमण किया।

निमन्त्रणोंका उद्देश्य मुझसे भारतीय संस्कृतिके ऊपर कुछ सुनना था और मेरा अपना उद्देश्य इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी अपने विचारोंका विकास करना था। मानववादी राष्ट्रेतर इतिहास और संस्कृतियोंके अन्तरावलम्बनपर इधर प्रायः दस वर्षोंसे लिखता रहा हूँ। इस दृष्टिकोणको सहानुभूतिपूर्वक समझनेवाले साथियोंकी बड़ी आवश्यकता थी और इन आमंत्रणोंसे इस दिशामें मैंने लाभ भी काफ़ी उठाया।

इसके अतिरिक्त मेरा एक अभिप्राय विदेशोंमें स्थापित भारतीय संस्कृतिपर अनुसंधान करनेवाली संस्थाओंको देखना-समझना भी था। अनेक विदेशोंमें भारतीय कला, इतिहास, पुरातत्त्व, संस्कृति आदिकी खोज और छानबीन आज सौ-डेढ़-सौ वर्षोंसे हो रही है। पर उनमें परस्पर किसी प्रकारका आदान-प्रदान नहीं, न सार्थक सम्पर्क ही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक देशोंमें एक ही विषयपर एक ही दिशामें खोज होती रही है। किसीको यह पता नहीं कि कहाँ कौन किस विषय

पर खोज कर रहा है। अनेक बार लोगोंने एक ही विषयपर दोहरा काम किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकारके चिन्तनसे भी एक लाभ होता है, यानी पिछली चीज़ोंकी जाँच हो जाती है और उनकी सचाईपर प्रकाश पड़ता है। परन्तु अधिकतर इससे समय और शक्तिका अपव्यय ही होता है। और इस प्रकारकी दोहरी खोज कुछ जानबूझकर स्वेच्छासे नहीं हुई बल्कि न जाननेके कारण हुई। कोई संस्था संसारमें इस दिशामें काम करनेवालोंकी शोधोंकी परस्पर जानकारी करानेवाली नहीं जिससे शोधकी दिशाएँ और क्षेत्र बाँट लिये जायँ। इससे इस क्षेत्रमें भी कुछ कार्य करना आवश्यक था, जिससे मेरा बाहर जाना हुआ।

भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धमें काम करनेवाली संस्थाओंका विदेशोंमें एक जाल-सा बिछा हुआ है। और एक लम्बे अरसेसे ये संस्थाएँ बड़े परिश्रमसे हमारी संस्कृतिका अध्ययन करती रही हैं। यह सही है कि इनका दृष्टिकोण सदा सराहनीय नहीं रहा, परन्तु अपने अथक अध्यवसाय और उससे बढ़कर अपनी खोज-पद्धतिसे तो निश्चय इन्होंने हमारी संस्कृतिका असाधारण उपकार किया है और उसके अध्ययनके लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है। इस काममें अनेक देशों, बीसियों संस्थाओं, पचासों पुराविदोंका योग रहा है।

मैं इस समय केवल उन्हींकी चर्चा करूँगा जिनके सम्पर्कमें मुझे अपने इस प्रवासमें काम करनेका अवसर मिला। ये संस्थाएँ विशेषकर तीन प्रकारकी—विश्वविद्यालय, संग्रहालय, विद्वत्परिषद् हैं।

अनेक विश्वविद्यालयोंमें भारतीय भाषाओं और संस्कृतिका अध्ययन-अध्यापन हो रहा है यद्यपि उसकी स्थिति इस काल उत्साहवर्धक नहीं है। अमरीका और यूरोपके विश्वविद्यालयोंमें इस अध्ययनकी मात्रा और गुण दोनोंमें काफ़ी अवनति हुई है। हारवर्डका प्राचीन विश्वविद्यालय कभी भारतीय संस्कृतिके अध्ययनका केन्द्र था। वहाँ कभी प्रबल मेधावी

लेन्माननें संस्कृत साहित्यके अनेक रत्नोंका प्रकाशन किया था। उस पण्डितकी चलाई प्राच्य सिरीज़ आज नगण्य हो गई है, यद्यपि अब भी वहाँ भारतीय इतिहास और संस्कृतिके विभाग क़ायम हैं।

येल विश्वविद्यालयमें भी प्रोफेसर एडजर्टन, जिन्होंने डा० सुकथणकर को भारतमें महाभारतका पाठ शुद्ध करनेमें सहायता की थी, अच्छा काम कर रहे हैं। शिकागो, बकले आदिमें भी संस्कृतिके अध्ययनका ख़ासा इन्तज़ाम है यद्यपि उसकी विशेष सराहना नहीं की जा सकती। इधर फिलाडेल्फियामें डा० नार्मन ब्राउनकी अध्यक्षतामें पेन्सिल्वेनिया विश्वविद्यालयका दक्षिण-पूर्व एशियाका विभाग भरापुरा है। उसके पास द्रव्यकी प्रचुरता है। काश मेधा और लग्नका भी उसमें योग होता!

यूरोपमें अनेक देश अपने दिवंगत पुराविदों द्वारा आरम्भ किये कार्यको यथासंभव बढ़ा रहे हैं, यद्यपि यह कार्य वस्तुतः यथासम्भव ही है। आक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिजमें यद्यपि वयोवृद्ध क्रमशः एफ़० डब्ल्यू० और ई० जे० टामसोंका दूरस्थ योग है परन्तु लगता है वहाँ अथवा एडिनबरामें अब मैक्समूलर, मैक्डोनल और कीथ के दिन नहीं लौटेंगे। केंब्रिजमें डा० बेली अब भी सुदृढ़ हैं यद्यपि लन्दनके प्राच्य अध्ययन विभागका कार्य शिथिल पड़ गया है, फिर भी इस दिशामें काड्रिंग्टन और मार्टिमर ह्वील्टरका कार्य सराहनीय है। मुझे अपने कार्यमें इनसे, दोनों टामसों और ब्रिटिश म्यूज़ियमके डा० बार्नेटसे पर्याप्त सहायता मिली। विशेषकर इतिहास जगत्के उस अद्वितीय नक्षत्र डा० ट्वायन्बीसे।

नारवेके ओस्लो विश्वविद्यालयमें इस दिशामें सराहनीय कार्य हुआ है। प्रो० मार्गेनस्टर्ने हिन्दी-संस्कृतके अध्यक्ष हैं, स्टेनकोनोके स्थानापन्न। पहली मुलाक़ातमें इन्होंने मुझसे हिन्दीमें ही बात की। यह मुझे अच्छा लगा, क्योंकि अधिकतर हिन्दी-संस्कृत पढ़ानेवाले बिदेशी विद्वान् इस संबंधमें कावा काट जाते हैं। स्टेनकोनों द्वारा स्थापित इण्डियन इन्स्टिटयूटके मार्गेनस्टर्ने अध्यक्ष हैं। उनको भारतसे विशेष शिकायत यह है कि हिन्दीकी

पुस्तकें नहीं मिल पातीं। यह शिकायत मुझसे अनेक विद्वानोंने अनेक देशोंमें की। अच्छा होता यदि हम इन संस्थाओंको भेजी जानेवाली पाठ्य-पुस्तकोंके सम्बन्धमें, विशेषकर विदेशी एक्सचेंजके सम्बन्धमें, कुछ रियायत करें।

स्टाकहोल्मके पास स्विडनका विख्यात विश्वविद्यालय उपशाला है जहाँ भारतीय विद्याओंका अध्ययन होता है। इसके अध्यक्ष अब कोपेनहेगेन विश्वविद्यालयमें डा० टुक्सनका स्थान लेने जा रहे हैं। डा० टुक्सन अत्यन्त वृद्ध हैं। रोगशय्यापर ही वे मुझे मिले और गिरती अथवा गिरी हुई भारतीय सांस्कृतिक शोधकी स्थितिपर दुःख प्रकट किया। कहा भी कि डेन्मार्कमें भारतके विषयमें बड़ी जिज्ञासा है और इस संबंधमें एक संस्था काम भी कर रही है, परन्तु खेद है कि भारत इस दिशामें विशेष सयत्न नहीं। मुझे इस संस्थाके अनेक कार्यकर्त्ताओंसे बादमें मिलनेका सुअवसर प्राप्त हुआ।

हालैण्डमें लाइडनका विश्वविद्यालय भारतीय विद्याओंके अध्ययन-अध्यापनमें विशेष सतर्क है। बौद्ध धर्मके प्रसिद्ध विचारक कर्न यहींके थे, और उनके कर्न-इन्स्टीट्यूटमें शोधका अच्छा कार्य हो रहा है। भारतीय पुरातत्त्वके प्रकाण्ड पण्डित सुबुद्ध फ़ोगलका सम्बन्ध दोनोंसे है। भारतीय राजदूत डा० मोहन सिंह मेहताने लाइडनके अनेक विद्वानोंको अपने घरपर मुझसे मिलनेको निमन्त्रित किया और उनसे मालूम हुआ कि कर्न-इन्स्टीट्यूटका नये सिरेसे संगठन हुआ है।

फ़्रान्समें भारतीय संस्कृतिके आज भी अनेक विद्वान् हैं। फूशे तो अत्यन्त वृद्ध हो चुके हैं, परन्तु अब भी उनकी जिज्ञासा प्रबल है। मुझे उनके घरपर ही मिलनेका अवसर मिला। मैडम फूशेको भारतीय वस्त्र-स्थितिका असाधारण ज्ञान है। सारबौन विश्वविद्यालयमें दिवंगत सिलवां-लवीके स्थानापन्न डा० रनू हैं, जिनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। डा० जूल

ब्लाक वृद्ध होते हुए भी अभी दृढ़ हैं। इन लोगोंके साथ भारतीय शोधके सम्बन्धमें अनुकूल चर्चा हुई।

जिनीवा और ब्यर्न आदिमें भी भारतीय ज्ञानका अनुशीलन किसी-न-किसी रूपमें जारी है। पर इस दिशामें विशेष प्रयास रोम विश्वविद्यालयके संस्कृत विभाग और भारतीय इन्स्टीट्यूटमें हुआ है। दोनोंके अध्यक्ष डा० तूची हैं। इन्होंने अपने कार्यकर्त्ताओंके साथ मेरा स्वागत किया और इस्तम्बुलमें होनेवाले ओरिएण्टल कांग्रेसमें प्राच्य अनुसन्धान सम्बन्धी मेरे प्रस्तावका समर्थन करनेका वचन दिया।

युगोस्लाविया और ग्रीसमें भारतीय संस्कृति सम्बन्धी कोई परिषद् नहीं। मैंने जब उनके विश्वविद्यालयोंमें अपने व्याख्यानमें बताया कि तीसरी सदी ईसा पूर्वके भारतीय सम्राट् अशोकने उनके देशमें पशु-मानव चिकित्सा-के केन्द्र बनवाये, तब मेरे श्रोताओंको बड़ा कुतूहल हुआ।

यूगोस्लावियामें भारतके प्रति अत्यन्त सहानुभूति है। किसी देशमें भारतके विषयमें जाननेकी इतनी उत्कण्ठा मैंने नहीं देखी जितनी वहाँ। उस देशके पाँचों विश्वविद्यालयोंमें बोलनेका मुझे सौभाग्य हुआ और मैंने वहाँके अध्यापकोंको भारतके प्रति अत्यन्त जागरूक पाया। मैंने युगोस्लावियाके मन्त्रियोंसे विश्वविद्यालयोंमें संस्कृत हिन्दी पढ़ानेकी व्यवस्थापर बात-चीतकी और उन्होंने शीघ्र-से-शीघ्र इस दिशामें प्रयत्न करनेका वचन दिया।

संयुक्त राज्य अमेरिकामें प्राच्य विद्या सम्बन्धी शोधमें न्यूयार्कके प्रसिद्ध एशिया इन्स्टिट्यूटने प्रशंसनीय कार्य किया है। विएनाके प्रसिद्ध पण्डित डा० गाइगर वहीं हैं और अवस्ता तथा वेदोंपर आज भी सतर्कतासे कार्य करते जा रहे हैं। मुझे इस संस्थामें अनेकबार व्याख्यान देनेका अवसर मिला। एक ऐसी ही संस्था सैन्फ्रान्सिस्कोमें भी स्थापित होने जा रही है।

विद्वत्परिषदोंके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों और अजायबघरोंमें भी

भारतीय मूर्तिचित्रण कलाओंका अध्ययन जारी है। न्यूयार्कके मेट्रापोलिटन म्यूज़ियममें अमरावती आदिकी कुछ मूर्तियाँ और राजपूत, मुगल क़लमके कुछ चित्र सुरक्षित हैं। अभाग्यवश इनका केटलग नहीं बना है। न्यूयार्क विश्वविद्यालयके आर्ट इंस्टिट्यूटमें भी भारतीय मूर्त्ति-कलाका शिक्षण होता है। परन्तु इस दिशामें प्रशंसनीय कार्य बोस्टन म्यूज़ियममें हुआ है जिसको उस परम मेधावी भारतीय कुमारस्वामीकी सेवाएँ प्राप्त थीं।

यूरोपमें भी इंगलैंडके ब्रिटिश म्यूजियम और पेरिसके म्यूजियमोंमें भारतीय कलाओंके संग्रह हैं। इन संग्रहालयोंमें आज भी विशेष लगनके साथ भारतीय पुरातत्त्व और कलाका अध्ययन जारी है, यद्यपि निस्सन्देह पुरानी जिज्ञासा अब कुछ कमज़ोर पड़ गई है।

इस सदीके दूसरे चरणमें भारतीय संस्कृति तथा शोधके क्षेत्रमें विशेष कार्य नहीं हुआ है। वास्तवमें इस बीच इस दिशामें कार्य कम हुआ है और भारतकी ही भाँति विदेशोंमें भी विद्वत्ताका ह्रास हुआ है। संस्कृतिकी चर्चा तो निश्चय थोड़ी-बहुत होती रही है परन्तु उसका विशुद्ध अनुशीलन, व्याख्या और विश्लेषण बहुत कम हुआ है।

विश्वविद्यालयोंमें भी भारतीय दर्शनोंकी जो पाठ्यक्रमसे पृथक् चर्चा होती है वह सर्वथा अदार्शनिक अर्थात् अतर्क्य होती है। पुरानी विवेकहीन पद्धतिसे काम हो रहा है और जंग लगी उखड़ी लफ्फ़ाज़ी दर्शनका स्थान ले रही है। संस्कृतिकी चर्चा, विश्लेषणात्मक संस्कृतिकी चर्चा, कहीं नहीं है।

भारतीय संस्कृति कितनी उदार, कितनी व्यापक, कितनी प्रगतिशील रही है, इसकी दृष्टि लोगोंको बहुत कम हो पाई है। विविध जन-धाराओंका योग इतना किसी देशकी संस्कृतिको नहीं मिला जितना भारतको मिला है और इसी कारण भारत अपनी सार्वदेशिक संस्कृतिके संस्कारसे शान्तिके पथपर चल रहा है। इस ओर विचारकोंका ध्यान कम गया है। किस प्रकार कोरी, भ्रान्त और रिक्त राष्ट्रवादिताका अपने सांस्कृतिक आचरणसे

सदियों पार भारतने प्रतिवाद किया है यह आवश्यक सत्य जितना लोगोंके ध्यानमें आना चाहिए उतना नहीं आया है ।

भारतीय संस्कृतिपर विदेशी पीठोंके कार्यको समन्वित करनेके अतिरिक्त इस भ्रमणसे मेरा एक उद्देश्य और था। वह था आधारभूत सांस्कृतिक एकताके विश्लेषण और अध्ययनके लिए भारतमें एक खोज-पीठ स्थापित करना। अधिकतर देशोंने, जिन्होंने मध्यपूर्वकी संस्कृतिका अध्ययन किया है, भारतको उस अध्ययनके दायरेसे बाहर रखा है। मुझे उन संस्थाओंके सामने यह स्थापित करते कठिनाई न हुई कि समकालीन भारतको उस दायरेसे बाहर रखना उन देशोंके इतिहासपर ही एकांशतः परदा डालना है। इस स्थितिको समझकर शिकांगो औरिएण्टल इन्स्टिट्यूट-ने भारतको भी अपने अन्वेषण क्षेत्रमें स्थान देना स्वीकार किया और हर्षकी बात है कि स्वदेश लौटनेपर उनके भेजे बहुमूल्य प्रकाशन मुझे उपलब्ध हुए ।

पूर्वी देशोंमें इस चर्चासे अधिक लाभ हुआ। लेक-सक्सेसमें ही अरब-लीगके मन्त्री श्री अज्ज़ाम पाशासे मेरा साक्षात् हुआ था और उन्होंने एशिया इन्स्टिट्यूटके एशियामें होनेकी सार्थकतापर ज़ोर दिया। अपनी लीगकी ओरसे उन्होंने मुझे सातों अरब देशोंमें भ्रमण करनेको आमन्त्रित किया। बढ़ती गर्मीके कारण मैं अन्य अरब देशोंमें तो तब न जा सका परन्तु मिस्रमें कुछ दिन ज़रूर बिताये। मिस्रने भारत-मिस्रके सांस्कृतिक सम्बन्धको दृढ़ करनेमें बड़ी दिलचस्पी दिखाई। संस्कृतियोंका अन्तरावलम्बन उस अरब देशको बहुत रुचा ।

और यह उचित ही था। संसारके इतिहासमें स्वयं अरबोंका सांस्कृतिक दान कुछ कम नहीं। कुछ कठमुल्ले यूरोपीय इतिहासकारोंका मत है कि पोतिएकी लड़ाईमें जो अरब हार गये तो यूरोपका सर्वनाश होते-होते बच गया। पर वे इस बातको भूलते हैं कि साथ ही यूरोप उनके स्पर्शसे साक्षर भी हो गया क्योंकि जहाँ प्रकाशके प्रति पोपने पीठ कर ली थी वहाँ

ग्रीस और रोमके ज्ञानपर गर्व करनेवाले यूरोपियनोंको ग्रीस और रोमका ज्ञान भी अरबोंने ही दिया। सुकरात और अफ़लातूनका ज्ञान, बर्बर कहलाने वाले उन्हीं अरबोंने यूरोपके लिए बचा रखा और कालान्तरमें उसका प्रचार हिन्दुओंके गणित, मंगोलोंके ज्योतिष और चीनियोंके काग़ज़के साथ अपने स्पेनके विद्यापीठ अलहमरासे किया। ज़बर-अल-तारीक (जिसका नाम जिब्राल्टरमें आज भी सुरक्षित है) की स्पेनविजय कुछ यूरोपियनोंके लिए अभाग्यका सूचक है परन्तु है वह उस प्रकाशकी क्षीण रेखा जिसमें अफलातून और अरस्तू आलोकित हुए।

इसी मानव सांस्कृतिक तथ्यकी खोज और प्रचार इतिहास पीठोंका इष्ट होना चाहिए। परन्तु अभाग्य वश कुछको छोड़ अधिकतर अमेरिका और यूरोपकी खोज संस्थाएँ इस दिशामें मौन हैं। आइन्स्टाइन, आल्डस हक्सले, टवायन्बी आदि चिन्तक भी इस दिशामें जाग्रत है और भारतीय समन्वयको बड़ी आशाकी दृष्टिसे देख रहे हैं।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library
मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No............................

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

H
891.24
उपाध्या
प्रति ।

अवाप्ति सं०
ACC. No. 8255

वर्ग सं.
Class No. ....

पुस्तक सं.
Book No. ....

लेखक
Author उपाध्याय, ना रायण

H
891.24
उपाध्या
प्रति 1

LIBRARY 8255

LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 122400

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.